जैन दर्शन के मूल सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व की समस्या के समाधान में जैन दर्शन के पास अनेकान्त, अहिंसा, अपरिग्रह और महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं । कुछ विद्वानों ने उन पर कार्य किया है । इसलिए बहुत लोग जैन विद्या से परिचित होने को उत्सुक हो रहे हैं । इस उत्सुकता की फलश्रुति है प्रस्तुत 'जैन दर्शन के मूल सूत्र' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के मूल सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के मूल सूत्र

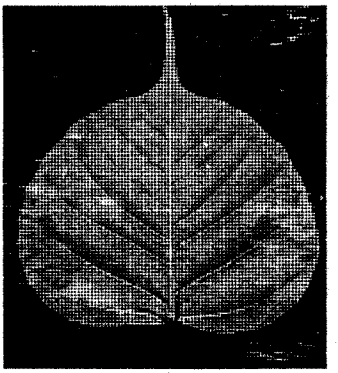

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

© आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली

जैन दर्शन के मूल सूत्र

लेखक : आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी
प्रबंधक आदर्श साहित्य संघ
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-११० ००२

संस्करण : सन् २००१

मूल्य : साठ रुपये

अर्थ सौजन्य: श्री बच्छराज छतरसिंह राजेन्द्रकुमार पुगलिया
श्रीडूंगरगढ़, अलीपुरद्वार, कलकत्ता

मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२

JAIN DARSHAN KE MOOL SUTRA **Rs 60.00**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

भारतीय विद्या के मूलस्रोत की खोज आर्य और अनार्य की विभाजन रेखा से पूर्ववर्ती है। उत्तरकालीन साहित्य तथा अनुसंधान सामग्री के आधार पर उस खोज को दो आयामों में विभक्त किया जा सकता है—समण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति। समण संस्कृति का इतिहास इन दो सहस्राब्दियों में परिवर्तन का इतिहास है। परिवर्तन के बाद जो शेष रहा है, उसे दो धाराओं में देखा जा सकता है—जैनधारा और बौद्धधारा।

बौद्धधारा का विस्तार पूर्ण विश्व में हुआ है, इसलिए विश्व के लोग भगवान बुद्ध को जानते हैं और बौद्धदर्शन से परिचित हैं। जैनधारा का विस्तार अतीत में विश्व के बहुत भागों में हुआ था। वर्तमान में वह हिन्दुस्तान के अंचलों तक सीमित है। इसलिए विश्व मानस में भगवान आदिनाथ और भगवान महावीर की प्रतिमा अंकित नहीं है और जैन विद्या से भी विश्व परिचित नहीं है।

विश्व की समस्या के समाधान में जैन दर्शन के पास अनेकान्त, अहिंसा, अपरिग्रह और महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। कुछ विद्वानों ने उन पर कार्य किया है। इसलिए बहुत लोग जैन विद्या से परिचित होने को उत्सुक हो रहे हैं। इस उत्सुकता की फलश्रुति है प्रस्तुत पुस्तक 'जैन दर्शन के मूल सूत्र।'

प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजयकुमार एवं संकलन में मुनि जयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

तारानगर
2-2-2000

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

१.	भगवान महावीर : जीवन और सिद्धान्त	९
२.	जैन धर्म : प्रागैतिहासिक काल	२४
३.	भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का स्थान	३२
४.	दार्शनिक दृष्टिकोण	३६
५.	जगत् और ईश्वर	४५
६.	सृष्टिवाद	५४
७.	नियति और पुरुषार्थ	६१
८.	प्रत्ययवाद और वस्तुवाद	६९
९.	स्याद्वाद और अनेकान्त	७३
१०.	परिणामि-नित्य	७७
११.	आत्मवाद और पुनर्जन्म	८६
१२.	आत्मा का स्वरूप	९४
१३.	जीव : स्वरूप और लक्षण	९९
१४.	जीव-शरीर सम्बन्धवाद	१०६
१५.	जीव-पुद्गल : भोक्तृ-भोग्यसंबंधवाद	१११
१६.	मूर्तामूर्तवाद	११३
१७.	जीव चैतन्य सम्बन्धवाद	११५
१८.	शरीर और आत्मा का भेदाभेदभाव	१२१
१९.	जैनधर्म की वैज्ञानिकता	१२४
२०.	समस्या और मुक्ति	१२७
२१.	हम हैं अपने सुख-दुःख के कर्ता	१३३
२२.	जैनदर्शन को जीने का अर्थ है सत्य को जीना	१४१
२३.	जैन दर्शन में राष्ट्रीय एकता के तत्त्व	१४५
२४.	धर्म और नैतिकता	१४९
२५.	जैन धर्म की देन	१५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर : जीवन और सिद्धान्त

गृहवास के तीस वर्ष

ढाई हजार वर्ष पुराना भारत दो राजनीतिक प्रणालियों में बंटा हुआ था। मगध, अंग, बंग, कलिंग, वत्स, अवन्ती, उत्तरी कौशल आदि राजतन्त्र की प्रणाली से शासित थे। वैशाली में लिच्छवि, कपिलवस्तु में शाक्य, कुशीनारा और पावा में मल्ल गणराज्य था। वहां की जनता गणतंत्र की शासन-प्रणाली से शासित थी। राजतंत्र की प्रणाली में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। गणतंत्र की प्रणाली में शासक मात्र मानव समझा जाता था। महावीर वैशाली गणतंत्र के शासक-सदस्य श्री सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। क्षत्रियकुण्डग्राम वैशाली का उपनगर था। उस पुण्यभूमि में महावीर ने जन्म लिया था। ईस्वी पूर्व ५९९, ३० मार्च (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को उनका जन्म हुआ था। उनका शैशव कैसा था, यौवन कैसा था, इस विषय मे बहुत कम जानकारी मिलती है। महावीर जीवन के अट्ठाईस वर्ष पूर्ण कर रहे थे, तब उनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए। उन्होंने श्रमण होने की भावना प्रकट की। उनके चाचा सुपार्श्व और बड़े भाई नन्दिवर्धन ने कुछ वर्षों तक घर में रहने का अनुरोध किया। महावीर की विनम्रता उसे अस्वीकार नहीं कर सकी और उनका संकल्प गृहवास को स्वीकार नहीं कर सका। इस अन्तर्द्वन्द्व ने एक नए मार्ग की खोज की। शायद यहीं उन्होंने यह सूत्र निर्मित किया होगा—जिसकी वासना नहीं छूटी और श्रमण हो गया, वह घर में नहीं है पर घर से दूर भी नहीं है। वासना से मुक्त होकर घर में रहते हुए भी घर से दूर रहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। वे दो वर्ष तक घर में रहते हुए घर से दूर रहे। इस अवधि में उन्होंने विदेह-साधना की।

वे परिवार में रहकर भी एकान्त में रहे। जिसके शरीर में आसक्ति नहीं रहती, वह समुदाय में रहकर भी अकेला रह सकता है।

उन्होंने अस्वाद का विशिष्ट अभ्यास किया। जिसे देहातीत अवस्था में रस का अनुभव हो जाता है, उसे अस्वाद की उपलब्धि करने में कठिनाई नहीं होती।

वे मौन और ध्यान में लीन रहे। जिसके लिए बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने का प्रयोजन शेष नहीं रहता, उसकी वाणी मौन हो जाती है, विकल्प शून्य हो जाते हैं।

इन दो वर्षों की साधना से उनके श्रामण्य की पृष्ठभूमि और अधिक सुदृढ़ हो गई। गुरुजनों के अनुरोध की अवधि पूर्ण हुई। उन्होंने अनुभव किया—घर में रहते हुए घर से दूर रहना सम्भव हो सकता है, पर यह सामुदायिक मार्ग नहीं है। यह कुछ लोगों का मार्ग है। सामुदायिक मार्ग यह हो सकता है—घर की वासना को छोड़ना और साथ-साथ घर को भी छोड़ देना। सबके कल्याण की बात सोचने वाला सामुदायिक मार्ग पर चलता है। महावीर ने घर छोड़ने के लिए परिवार की अनुमति प्राप्त कर ली और वे वहां से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुण्डग्राम के बाहर उद्यान में गए। जनता के समक्ष उन्होंने स्वयं श्रमण दीक्षा स्वीकार की, आजीवन समता के पथ पर चल पड़े।

साधना के बारह वर्ष

भगवान महावीर की साधना का पहला चरण इस संकल्प के साथ उठा—आज से मैं विदेह रहूंगा, देह की सुरक्षा नहीं करूंगा। सर्दी-गर्मी के परीषहों को झेलूंगा। जो भी कष्ट आए, उसे सहन करूंगा। रोग की चिकित्सा नहीं कराऊंगा। भूख और प्यास की बाधा से अभिभूत नहीं होऊंगा। नींद पर विजय प्राप्त करूंगा।

भगवान महावीर ने अनुभव किया—अभय के सधे बिना समता नहीं सध सकती और विदेह के सधे बिना अभय नहीं सध सकता। मानवीय दुर्बलताओं का मूल स्रोत भय है। मानव की महान शक्ति के विकास का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल स्रोत अभय है। भय का आदि बिन्दु है—देह की आसक्ति। उसकी आसक्ति को छोड़ना, विदेह होना, अभय सिद्धि की अनिवार्य शर्त है।

भगवान महावीर जैसे-जैसे विदेह की साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी अहिंसा, मैत्री और शान्ति की शिखा अधिक प्रज्ज्वलित होती गई। हिंसा, वैर और अशान्ति—ये सब देह में होते हैं, विदेह में नहीं होते।

सर्प और समता

महावीर कनखल आश्रम के पार्श्ववर्ती देवालय के मण्डप में ध्यान कर रहे थे। चण्डकौशिक सर्प ने दृष्टि से विष का विकिरण किया। भगवान पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह भगवान के पैरों में लिपट बार-बार उन्हें डसने लगा। उनकी आंखों से निरन्तर अमृत की धारा बहती रही। उनका मैत्रीभाव विष को निर्विष करता रहा। अंहिसा की हिंसा पर विजय हुई। सर्प का क्रोध शांत हो गया। उसने सदा के लिए अहिंसा का वरण कर लिया।

महावीर जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी चेतना में समता का सूर्य अधिक आलोक देने लगा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—सब उस आलोक से आलोकित हो उठे।

अरक्षा : सबसे बड़ी सुरक्षा

महावीर ध्यान कर रहे थे। एक ग्वाला आया। साथ में बैल थे। उन्हें वहां चरने के लिए छोड़ वह घर चला गया। उसने लौटकर देखा बैल वहां नहीं हैं। वह क्रुद्ध हो गया। बैलों को खोजने इधर-उधर घूमने लगा। थोड़ी देर बाद फिर वहीं पहुंचा, जहां महावीर ध्यान कर रहे थे। बैलों को महावीर के आस-पास देखकर वह स्तब्ध रह गया। 'यह श्रमण बैलों को हथियाना चाहता है', इस सन्देह ने ग्वाले का क्रोध प्रज्वलित कर दिया। वह रस्सी को आकाश में उछालता हुआ महावीर पर प्रहार करने को आगे बढ़ा, इतने में नंदिवर्धन वहां आ पहुंचा। उसने ग्वाले को समझा-बुझाकर शांत कर दिया। नंदिवर्धन ने महावीर की सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाही। महावीर ने उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा— 'जो अपने आपको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असुरक्षित अनुभव करता है। वह अध्यात्म के पथ पर नहीं चल सकता। अध्यात्म के पथ पर चलने वाला अपने आपको सदा सुरक्षित अनुभव करता है। मुझे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नहीं है। स्वतंत्रता और स्वावलम्बन ही मेरी सुरक्षा है।'

ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन

महावीर ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। कुछ युवतियों ने आकर सहवास के लिए प्रार्थना की। भगवान ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। युवतियों ने उन्हें अपने मायाजाल में फंसाने की अनेक चेष्टाएं कीं, पर उनकी चैतन्य-केन्द्र की ओर बहने वाली ऊर्जा का एक कण भी काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित नहीं हुआ। भगवान के ध्यान की धारा अविच्छिन्न चलती रही। युवतियां जिस दिशा से आई थीं उसी दिशा में लौट गईं।

कैवल्य

भगवान महावीर की साधना का मूलमंत्र है—समता। न राग और न द्वेष—चेतना की यह अनुभव-दशा समता है। भगवान ने अनुभव किया, दु:ख का मूल बीज है कर्म और कर्म का मूल बीज है राग-द्वेष। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—ये राग-द्वेष के ही परिणाम हैं, राग-द्वेष के होने पर ये होते हैं, उनके न होने पर नहीं होते। भगवान ने साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में केवल ३५० दिन भोजन किया। शेष समय उपवास में बीता। उन्होंने छह मास तक लगातार उपवास किया। भगवान ने समूचे साधनाकाल में कुल मिलाकर अड़तालीस मिनट से अधिक नींद नहीं ली। भगवान ने सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कोई भी वस्त्र नहीं ओढ़ा। कष्ट आने पर किसी की शरण में नहीं गये। चींटियों ने सताया, जंगली मच्छरों ने काटा, अग्नि से पैर झुलस गये। पर भगवान ने उनका वैसे अनुभव किया जैसे कुछ हुआ ही न हो। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, निंदा-अनिंदा, मान-अपमान, जीवन-मरण के अनगिन प्रसंगों और घटनाओं ने भगवान की समता की कसौटी की। पर हर कसौटी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे खरे उतरे। उनकी विदेह-साधना सिद्ध हो गई। उनकी अभय-साधना सिद्ध हो गई। उनकी समता की साधना सिद्ध हो गई। वे वीतराग की भूमिका में केवली हो गये। परोक्ष ज्ञान का लोहावरण टूट गया। उनकी चेतना अनावृत हो गई। उन्हें ज्ञान के माध्यमों की अपेक्षा नहीं रही। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपयोगिता समाप्त हो गई। उनके लिए सब कुछ प्रत्यक्ष हो गया। साधनाकाल में भगवान प्रायः मौन, अकर्म और ध्यानस्थ रहे। साधना की सिद्धि होने पर उन्होंने सत्य की व्याख्या की। उन्होंने व्याख्या का माध्यम जन-भाषा को बनाया। उनके उपदेश आज भी उस समय की जनभाषा—प्राकृत में मिलते हैं।

सत्य

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी सत्य की उपलब्धियों की शताब्दी है। उस शताब्दी में भारतीय क्षितिज पर महावीर और बुद्ध, चीनी क्षितिज पर लाओत्से और कन्फ्यूशियस, यूनानी क्षितिज पर पाइथेगोरस जैसे महान धर्मवेत्ता सत्य के रहस्यों का उद्घाटन कर रहे थे। वे भौगोलिक सीमा में विभक्त थे। उनका प्रतिपादन इस तथ्य की घोषणा है कि सत्य शाश्वत है। वह देश और काल से व्यवच्छिन्न नहीं है।

ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी में जैन धर्म के महान तीर्थंकर भगवान पार्श्व हो चुके थे। उनका धर्मशासन सत्य का सापेक्ष उद्घोष कर रहा था। उस समय उपनिषद् लिखे जा रहे थे। औपनिषदिक ऋषि नेति-नेति के द्वारा सत्य की व्याख्या कर रहे थे। महावीर के समय तक उसकी पुनरावृत्ति हो रही थी। बुद्ध ने कहा— 'सत्य अव्याकृत है।' लाओत्से ने कहा— 'सत्य कहा नहीं जा सकता। महावीर ने कहा— 'सत्य नहीं कहा जा सकता, यह जितना वास्तविक है उतना ही वास्तविक यह है कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य कहा जा सकता है—इसका स्वीकार यदि अवास्तविक है तो सत्य नहीं कहा जा सकता—इसका स्वीकार भी वास्तविक नहीं है। वास्तविकता इन दोनों के समन्वय से प्राप्त होती है। विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु-जगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मौत, शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते है।'

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

'भंते! सत्य क्या है?'

'वह बताया नहीं जा सकता।'

'तो हम उसे कैसे जानें?'

'तुम स्वयं उसे खोजो।'

'उसकी खोज कैसे करें?'

'कर्म को छोड़ दो—मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।'

'भंते! फिर जीवन कैसे चलेगा?'

'संयत कर्म करो—बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तब संयम से खाओ। सब कुछ संयम से करो।'

'भंते! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता?'

'ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और सत्य वक्तव्य है—इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यग ज्ञान है।'

वक्तव्य सत्य

'भंते! वक्तव्य सत्य क्या है?'

'अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।'

ज्ञान और कर्म का समन्वय

महावीर न कोरे दार्शनिक थे और न कोरे धार्मिक। वे दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। उन्होंने सत्य को देखा, फिर चेतना के विकास के लिए अनाचरणीय का संयम और आचरणीय का आचरण किया।

महावीर ने कहा— अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन (भक्ति) और अकेला पुरुषार्थ (कर्म) मनुष्य को दु:ख-मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय ही उसे दु:ख-मुक्ति की ओर ले जाता है। इस दर्शन के आधार पर उन्होंने इस सूत्र का प्रतिपादन किया—पहले जानो, फिर करो। ज्ञान-हीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—ये दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—ये दोनों एक साथ होकर ही सार्थक होते हैं।

श्रद्धा : ज्ञान और आचार का सेतु

ज्ञान और आचार के बीच में एक दूरी बनी रहती है। हम बहुत सारे सत्यों को जानते हैं, पर उनका आचरण नहीं करते। ज्ञान सीधा आचरण से नहीं जुड़ता है। उन दोनों को जोड़ने वाला सेतु श्रद्धा है। वह ज्ञात सत्य के प्रति आकर्षण पैदा करता है। आकर्षण पुष्ट हो जाता है, तब ज्ञान स्वयं आचार बन जाता है। हम लोग समझते हैं कि जिसका ज्ञान न हो उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। महावीर ने ठीक इसके विपरीत कहा—जिसका ज्ञान हो जाए उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा अज्ञान का संरक्षण नहीं करती। वह ज्ञान को आचरण तक ले जाती है। ज्ञान दुर्लभ है, श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है, आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ होती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा और परमात्मा

महावीर ने किसी शास्त्र को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना। उन्होंने यह घोषणा की कि ज्ञान का मूल स्रोत मनुष्य है। आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। आत्मा ही कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बनती है। उनके दर्शन में स्वतः प्रामाण्य शास्त्र का नहीं है, मनुष्य का है। वीतराग मनुष्य प्रमाण होता है और अन्तिम प्रमाण अपनी वीतराग दशा है।

सहअस्तित्व

महावीर अनेकात्मवादी थे। उन्होंने बताया—आत्माएं अनन्त हैं। वे किसी एक आत्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा से स्वतन्त्र है। सब आत्माओं में चैतन्य है, पर वह सामुदायिक नहीं है। वह हर आत्मा का अपना-अपना है, स्वतन्त्र है। जैसे आत्माएं अनेक हैं, वैसे ही उनकी योनियां भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु-जीवन में है और कोई मनुष्य जीवन में। मनुष्य जीवन में भी अनेक विभाजन हैं। कोई मनुष्य शीत कटिबन्ध में जन्मा हुआ है तो कोई उष्ण कटिबन्ध में। कोई गोरा है तो कोई काला है। महावीर के युग में भारतीय मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में बंटा हुआ था। ये विभाजन मनुष्य के अपने कर्म-संस्कार, भौगोलिक वातावरण और समाज-व्यवस्था के आधार पर हुए थे। पर मनुष्य का अहंकार प्रबल होता है। जिस वर्ग को अहंकार प्रकट करने की सुविधा मिली, उसने उच्चता और नीचता की दीवारें खड़ी कर दीं। जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले मनुष्य नीच कहलाने वाले मनुष्य के साथ पशु से भी हीन व्यवहार करने लगे। इस स्थिति में महावीर ने चिन्तन किया कि वस्तु-जगत में समन्वय है, सहअस्तित्व है तो फिर मानव-जगत में समन्वय और सहअस्तित्व क्यों नहीं होना चाहिए? इस उत्प्रेक्षा के आधार पर उन्होंने मैत्री का सूत्र प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सब जीवों के साथ मैत्री करो। मैत्री का सिद्धांत बहुत अच्छा है। सिद्धांत का सौन्दर्य व्यवहार का सौन्दर्य बन जाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सरल नहीं है। स्वभाव, रुचि और चिंतन की धारा भिन्न होने पर मैत्री टूट जाती है। महावीर ने उसे साधने का सूत्र दिया—सहिष्णुता। उन्होंने बताया—भेद के पीछे छिपे हुए अभेद को मत भूलो। तुम जिससे भिन्न हो उससे उतने ही अभिन्न हो। जब सबसे भिन्न-अभिन्न हो, तब भेद को सामने रखकर कैसे किसी को शत्रु मानते हो और अभेद को सामने रखकर कैसे किसी को मित्र मानते हो? तुम जिसे शत्रु मानते हो उसे भी सहन करो और जिसे मित्र मानते हो उसे भी सहन करो। इस सूत्र से अपने आपको भावित करो—

मैं सब जीवों को सहन करता हूं।
वे सब मुझे सहन करें।
मेरी सबके प्रति मैत्री है,
किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

तुम सबसे भिन्नाभिन्न हो तब कैसे किसी को नीच मानते हो और कैसे किसी को उच्च मानते हो? तुम जिसे नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अंहकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। अहंकार को छोड़ यथार्थ को देखो। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। यह कर्म का विभाजन है। इस विभाजन के साथ अंहकार को छोड़कर उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित मत करो, मनुष्य को तोड़ कर मत देखो। व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ जुड़ी हुई मानवीय एकता को मत भूलो। इस घोष ने भारतीय मानस को आंदोलित कर दिया। अनकेता एकता से पृथक् नहीं है और एकता अनेकता से पृथक् नहीं है। यह सहअस्तित्व का मौलिक आधार है। इसी आधार पर मानवीय एकता संभव हो सकती है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। शांतिपूर्ण जीवन के लिए सहअस्तित्व अनिवार्य है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतिकता, धर्म और दर्शन

बीज की निष्पत्ति पेड़ और पेड़ की निष्पत्ति फल है। दर्शन की निष्पत्ति नैतिकतापूर्ण व्यवहार है। जब हम भीतर से देखते हैं, तब दर्शन से धर्म की और धर्म से नैतिकता की भूमिका पर आते हैं। जब हम बाहर से देखते हैं तब नैतिकता से धर्म की और धर्म से दर्शन की भूमिका पर चले जाते हैं। महावीर का दर्शन भीतर से बाहर की ओर था। उसी आधार पर उन्होंने कहा—जिसका दृष्टिकोण सम्यक् है वही व्रती होगा। अहिंसा का व्रती अपने आश्रितों और कर्मकारों के प्रति क्रूर व्यवहार नहीं करेगा, उनकी आजीविका में विघ्न नहीं डालेगा। सत्य का व्रती विश्वासघात नहीं करेगा, झूठी गवाही नहीं देगा। अचौर्य का व्रती मिलावट नहीं करेगा, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु नहीं देगा। ब्रह्मचर्य का व्रती विलासपूर्ण सामग्री का उपयोग नहीं करेगा। अपरिग्रह का व्रती संग्रह की सीमा करेगा। व्यक्तिगत जीवन में संयमी रहेगा। जिसके जीवन में नैतिकता नहीं है, उसमें धर्म नहीं हो सकता। नैतिकता-विहीन धर्म की कल्पना महावीर के लिए सर्वथा असम्भव थी। धर्म के आचरण से व्यक्ति के जीवन व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता, सामाजिक सम्बन्धों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता तो कैसे समझा जाए कि धर्म का आचरण करने वाले जीवन में धर्म है? धर्म शुद्ध आत्मा में उतरता है। आत्मा की शुद्धता होती है, वहां अनैतिकतापूर्ण व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता।

मौलिक सिद्धांत

महावीर ने तत्त्व, धर्म और व्यवहार के जिन सिद्धातों का प्रतिपादन किया और जिन सिद्धांतों ने जनमानस को आंदोलित किया, वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे। संक्षेप में उन सिद्धांतों और उनसे फलित शिक्षाओं का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अनेकांत और स्याद्वाद

१. तत्त्व को अनन्त दृष्टिकोण से देखना अनेकांत और उसका सापेक्ष प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। सत्य अनन्त-धर्मा है। एक दृष्टिकोण से उसके एक धर्म को देखकर शेष अदृष्ट धर्मों का खंडन मत करो।

२. एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो।

३. सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरों के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।

४. प्रत्येक विचार सत्य हो सकता है और प्रत्येक विचार असत्य हो सकता है—एक विचार दूसरे विचारों से सापेक्ष होकर सत्य होता है। एक विचार दूसरे विचारों से निरपेक्ष होकर असत्य हो जाता है।

५. अपने विचार की प्रशंसा और दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।

२. अहिंसक क्रान्ति

राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। सब जीवों के प्रति संयम करना, समभाव रखना अहिंसा है। समानता का भाव सामुदायिक जीवन में विकसित होता है तब अहिंसक क्रान्ति घटित हो जाती है। महावीर ने अहिंसक क्रान्ति के लिए जनता को ये सूत्र दिए—

१. किसी का वध मत करो।

२. किसी के साथ वैर मत करो। जो दूसरों के साथ वैर करता है, वह अपने वैर की शृंखला को और प्रलम्ब कर देता है।

३. सबके साथ मैत्री करो।

अहिंसा के इन सूत्रों का मूल्य वैयक्तिक था। महावीर ने सामाजिक सन्दर्भ में भी अहिंसा के सूत्र प्रस्तुत किये।

४. उस समय दास-प्रथा चालू थी। सम्पन्न मनुष्य विपन्न मनुष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खरीदकर दास बना लेता था। महावीर ने इस हिंसा के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने एक सूत्र दिया—दास बनाना हिंसा है, इसलिए किसी को दास मत बनाओ।

५. उस समय के पुरुष स्त्रियों को और शासक वर्ग शासितों को पराधीन रखना अपना अधिकार मानते थे। महावीर ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि दूसरों को पराधीन बनाना हिंसा है। उन्होंने अहिंसा का सूत्र यह दिया— दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।

६. उस समय उच्च और नीच—ये दो जातियां समाज-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत थीं। उच्च जाति नीच जाति से घृणा करती थी। उसे अछूत भी मानती थी। महावीर ने इस व्यवस्था को अमानवीय प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा—जाति वास्तविक नहीं है। जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील है, काल्पनिक है। इसे शाश्वत का रूप देकर हिंसा को प्रोत्साहन मत दो। किसी मनुष्य से घृणा मत करो। उन्होंने सब जाति के लोगों को अपने संघ में सम्मिलित कर 'मनुष्य जाति एक है'—इस आंदोलन को गतिशील बना दिया।

७. उस समय स्वर्ग की प्राप्ति के लिए पशु की बलि दी जाती थी। महावीर ने कहा—स्वर्ग मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है निर्वाण—परमशांति। पशुबलि से स्वर्ग नहीं मिलता। जो पशुबलि देता है, वह मूक पशुओं की हिंसा कर अपने लिए नरक का द्वार खोलता है।

८. उस समय माना जाता था कि युद्ध में मरने वाला स्वर्ग में जाता है। महावीर ने इसकी अवास्तविकता का प्रतिपादन करते हुए कहा— 'युद्ध हिंसा है। वैर से वैर बढ़ता है। उससे समस्या का समाधान नहीं होता।'

९. आक्रमण मत करो। मांसाहार और शिकार का वर्जन करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अपरिग्रह

मन में ममत्व का भाव न होना अपरिग्रह है। वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महावीर ने हिंसा और परिग्रह को तोड़कर नहीं देखा। मन में हिंसा का भाव (अहंकार या ममकार) होता है तब संग्रह करने की वृत्ति जागती है और जब मनुष्य संग्रह करता है तब उसकी हिंसा प्रबल हो उठती है। इस प्रकार हिंसा के लिए संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा—यह चक्र चलता रहता है।

महावीर ने अपरिग्रह के इन सूत्रों का प्रतिपादन किया—

१. अपने शरीर और परिवार के प्रति होने वाले ममत्व को कम करो।
२. उपभोग की वस्तुओं का संयम करो।
३. धन-सम्पदा बढ़ाने या उसकी सुरक्षा करने के लिए फैलाव मत करो—विस्तारवादी नीति मत अपनाओ।
४. दूसरों के स्वत्व पर अधिकार करने के लिए आक्रमण मत करो।

४. पुरुष और पौरुष

१. मनुष्य अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है।
२. राजा देव नहीं है, ईश्वर का अवतार नहीं है। वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, सम्पन्न मनुष्य कहो।
३. ग्रन्थ मनुष्य की कृति है। पहले मनुष्य, फिर ग्रन्थ। कोई भी ग्रंथ ईश्वरीय नहीं है।
४. विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यों के योग या परस्परापेक्षिता से स्वतः संचालित है। वह किसी एक सर्वशक्तिमान सत्ता द्वारा संचालित नहीं है।
५. यह विश्व छह द्रव्यों की संघटना है। वे ये हैं—
   * धर्म—गतितत्त्व।
   * अधर्म—स्थितितत्त्व।
   * आकाश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* काल।
* पुद्गल।
* जीव।

६. मनुष्य अपने ही कर्त्तव्य से उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति करता है। इस प्रसंग में महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन तत्त्वों की व्याख्या की।

७. मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्जा नहीं है। भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है। वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है।

५. धर्म-संघ

धर्म-संघ की सुव्यवस्था के लिए महावीर ने संघ के सूत्रों का प्रतिपादन किया—

१. असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए संविभाग करो। दूसरों के हिस्से पर अधिकार मत करो।
२. अनाश्रितों को आश्रय देने के लिए तत्पर रहो।
३. नये सदस्यों को शिक्षा देने के लिए तत्पर रहो।
४. रोगी की सेवा के लिए तत्पर रहो।
५. पारस्परिक कलह हो जाने पर किसी का पक्ष लिये बिना उसे शांत करने का प्रयत्न करो।

सामाजिक संगठनों के लिए भी इन सूत्रों की उपयोगिता कम नहीं है।

६. धर्म का स्वरूप

१. धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है। किन्तु वही धर्म, जिसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है।
२. विषय-वासना, धन और सत्ता से जुड़ा हुआ धर्म संहारक विष की भान्ति खतरनाक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और हिंसापूर्ण उपासनाएं करने वाला अधर्म को प्रोत्साहन देता है।

४. चरित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश त्राण नहीं देते। धर्म और धर्म-संस्था एक नहीं है।

५. भाषा का पांडित्य और विद्याओं का अनुशासन मन को शांत नहीं करता। मन की शांति का एक ही साधन है, वह है धर्म।

निर्वाण

आत्मानुशासन के होने पर ही दूसरे शासन सफल हो सकते हैं, इस आधार-भित्ति पर महावीर ने जनमानस को धर्म-शासन में दीक्षित किया। ईस्वी पूर्व ५२७ में उनका निर्वाण हुआ। निर्वाण से पूर्व भगवान ने दो दिन का उपवास किया। उस अवधि में वे धर्म का प्रवचन करते रहे। पर्यंकासन में बैठे हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। मल्ल और लिच्छवि गणतंत्र के शासकगण और जनता ने दीप जलाकर निर्वाण-उत्सव मनाया। ज्योति की स्मृति में ज्योतिपर्व संस्थापित हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-धर्म : प्रागैतिहासिक काल

आज का युग अणु-युग है। अणु-अस्त्रों का युग है। मनुष्य हिंसा से भयभीत है। मन में एक आतंक है। इस स्थिति में वह अहिंसा की खोज कर रहा है। उसका मूल्यांकन कर रहा है। एक ओर अणु-अस्त्रों का युग है तो दूसरी और अहिंसा का युग। यह अहिंसा की खोज का युग है।

विज्ञान के क्षेत्र में आज सापेक्षवाद की चर्चा है। आइंस्टीन के बाद सापेक्षवाद को बहुत मूल्य मिला है। मनुष्य में एक ओर बहुत आग्रह है। जितनी राजनीतिक प्रणालियां हैं, उनमें अपनी-अपनी पकड़ और अपना-अपना आग्रह है। दूसरी ओर सापेक्षवाद का सिद्धांत है। इन समस्याओं और परिस्थितियों के बीच हम जैनदर्शन को पढ़ें।

जैन-दर्शन ने अहिंसा का सिद्धांत दिया और उसका व्यावहारिक मार्ग भी बताया। जैन-दर्शन ने सापेक्षवाद का सिद्धान्त दिया और उसका व्यावहारिक मार्ग भी बताया। एक ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ में नि:शस्त्रीकरण की बहुच चर्चा होती है, दूसरी ओर शस्त्रीकरण बढ़ रहा है। इस संदर्भ में जैन-दर्शन को पढ़ना बहुत मूल्यवान है। शायद भारतीय दर्शनों में और जहां तक मैं सोचता हूं, पाश्चात्य दर्शन में भी नि:शस्त्रीकरण पर सबसे पहले भगवान महावीर ने अपना स्वर मुखर किया था। उन्होंने शस्त्रीकरण के विरोध में कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये, निर्देश दिये—अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति शस्त्रों का उत्पादन और संयोजन—दोनों न करे। यह एक बहुत क्रान्तिकारी तथा दूरदर्शिता की बात थी।

ये सारी घटनाएं वर्तमान समस्या के सन्दर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण बनती हैं। इसलिए इन संदर्भों में जैन-धर्म को पढ़ना आज ज्वलंत आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। पहला प्रश्न होगा कि जैन धर्म कब से है? इसे किसने चलाया? इसका सीधा-सा उत्तर होगा कि जैन धर्म के प्रवर्तक हैं भगवान महावीर और ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। तो फिर दूसरा प्रश्न होगा कि क्या इससे पहले जैन धर्म नहीं था? तो कहना होगा कि था। महावीर से पहले भगवान पार्श्व जैन धर्म के प्रवर्तक थे। महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले भगवान पार्श्व ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। भगवान महावीर और भगवान पार्श्व, यह जो तीन हजार वर्ष का समय है, इस अवधि में दो तीर्थंकर हुए, जो आज ऐतिहासिक माने जाते हैं। इतिहास की सीमा में जैन धर्म के दो तीर्थंकर मान्य हुए हैं। फिर प्रश्न होता है—क्या जैन धर्म की सीमा यही है या इसके भी पीछे जाती है? वह सीमा इसके पीछे भी जाती है। पर यह काल इतिहास-काल नहीं है। उसे प्रागैतिहासिक काल माना जाता है। जैन-परम्परा के अनुसार भगवान पार्श्व से पहले बाईस प्रवर्त्तक और तीर्थंकर हो चुके हैं। पर इतिहास में उन्हें मान्यता नहीं मिली। वे प्रागैतिहासिक हैं। इन बाईस तीर्थंकरों ने, जिनमें सबसे पहले तीर्थंकर हैं भगवान ऋषभ, उनका काल बहुत दूर चला जाता है, हजारों लाखों-करोड़ों वर्षों की अवधि से पहले उनका जन्म हुआ। और तब हुआ, जब मानव समाज बना नहीं था। आदिम-युग चल रहा था। लोग जंगलों में रहते थे। घर नहीं बने थे। कपड़े नहीं बने थे। खेती शुरू नहीं हुई थी। बर्तनों का निर्माण नहीं हुआ था। न शिल्प बना, न कला का विकास हुआ और न राज्य बना। प्रारम्भिक युग चल रहा था। उस समय में भगवान ऋषभ का जन्म हुआ। भगवान ऋषभ समाज-व्यवस्था के प्रवर्तक थे। उन्होंने समाज का निर्माण किया, सामूहिक जीवन जीना सिखाया, खेती करना सिखाया, शिल्प का विकास किया, कला सिखायी। भगवान ऋषभ से पहले लिपि नहीं थी। ऋषभ ने लिखना सिखाया। ऋषभ से पहले कलाओं का ज्ञान नहीं था। उन्होंने दूसरों को कलाएं सिखायीं। समाज को जितनी अपेक्षाएं थीं, ऋषभ ने उन अपेक्षाओं को पूरा किया। समाज की व्यवस्था और साथ-साथ राज्य की व्यवस्था। न कोई राजा था। न शासन था। न कोई दंडनीति थी। भगवान ऋषभ ने राज्य का सूत्रपात किया और राज्य की सारी व्यवस्था की। समाज के पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्थापक, राज्य के पहले व्यवस्थापक ऋषभ बने, सूत्रधार बने और फिर सारी व्यवस्थाओं का निर्माण कर, प्रजा के लिए सारी व्यवस्थाएं कर वे स्वयं मुनि बन गये। यानी धर्म की व्यवस्था का सूत्रपात किया। वे प्रथम मुनि बने। उन्होंने आत्म-साधना प्रारम्भ की। उससे पहले कोई व्यवस्थित धर्म नहीं था। प्राकृतिक धर्म था किन्तु प्रवर्तित धर्म नहीं था। भगवान ऋषभ ने पहले स्वयं साधना की। साधना के द्वारा आत्मा का अनुभव किया, अनुभव ज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात जैन धर्म का प्रवर्तन किया, त्याग-धर्म का, मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन किया। उनका धर्म अनुभूत धर्म है। धर्म का प्रवर्तन दो प्रकार से होता है। एक बुद्धि के सहारे धर्म का प्रवर्तन होता है और एक अनुभव के आधार पर धर्म का प्रवर्तन होता है। जो अनुभव के आधार पर धर्म का प्रवर्तन किया जाता है, वह वास्तव में धर्म होता है। बुद्धि के आधार पर जो धर्म का प्रवर्तन होता है, वह तार्किक धर्म होता है, वास्तविक धर्म नहीं होता।

भगवान ऋषभ ने कैवल्य प्राप्त किया, सर्वज्ञ बने, सर्वदर्शी बने, आत्मदर्शी बने। आत्मदर्शन के पश्चात धर्म के सूत्र जनता के सामने प्रस्तुत किए। जैन धर्म के पहले प्रवर्तक ऋषभ बने। चौबीसवें प्रवर्तक भगवान महावीर बने। इन दोनों के बीच में बाईस प्रवर्तक और बने। इस प्रकार चौबीस प्रवर्तक बने। आचार्य हजारों-हजारों हुए। उपदेष्टा हजारों-हजारों हुए। किन्तु प्रवर्तक केवल चौबीस हुए।

हमें तीर्थंकर और आचार्य—इस भेद को समझना होगा। तीर्थंकर परम्परा का प्रवर्तक होता है। आचार्य परम्परा का संचालक होता है। आचार्य तीर्थंकर का प्रतिनिधि होता है। तीर्थंकर परम्परा का संचालक नहीं होता, किन्तु स्वयंबुद्ध और प्रवर्तक होता है। आचार्य तीर्थंकर की परम्परा के आधार पर सत्यों का प्रतिपादन करता है। तीर्थंकर किसी परम्परा का प्रतिपादक नहीं होता। वह स्वयं बुद्ध अपने अनुभव के आधार पर धर्म का निरूपण करता है। इसलिए प्रत्येक तीर्थंकर को आदिकर, धर्म की आदि करने वाला या प्रवर्तक कहा जाता है।

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि पार्श्व ने जो कहा, वह मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपको बता रहा हूं। ऐसा कहने वाला स्वयं बुद्ध या अनुभव की उद्घोषणा करने वाला नहीं होता। प्रत्येक तीर्थंकर कहेगा, 'मैंने ऐसा देखा है, अनुभव किया है, यह मैं कह रहा हूं।' यह अहंकार की भाषा लगती है। या तो अहंकारी व्यक्ति ऐसा कहेगा कि मैं ऐसा कहता हूं या साक्षात्द्रष्टा कहेगा कि मैं ऐसा कहता हूं। तीर्थंकर साक्षात्द्रष्टा होता है। वह सत्य का साक्षात्कार करता है इसलिए तीर्थंकर इस भाषा में बोलते हैं कि मैंने ऐसा अनुभव किया है और मैं यह कहता हूं। इसीलिए वे तीर्थंकर हैं, प्रवर्तक हैं। प्रत्येक तीर्थंकर धर्मचक्र का प्रवर्तक होता है। भगवान ऋषभ ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया। भगवान महावीर ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया और उनके मध्यवर्ती तीर्थंकरों ने धर्म-चक्रों का प्रवर्तन किया।

जैन परम्परा में ऐसे चौबीस महापुरुष हुए, जिन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। इसलिए जैन धर्म के चौबीस प्रवर्तक हैं। वे भिन्न-भिन्न काल में हुए हैं। उनके मध्य काल का अंतराल है। सबने अपने-अपने स्वयंबुद्ध अनुभव के आधार पर प्रवर्तन किया। पर उन सबमें एक समान आधार, समान अनुभूति है, इसलिए एक परम्परा के साथ चौबीस तीर्थंकर जुड़े हैं और जैन धर्म के सब प्रवर्तक माने जाते हैं।

जैन धर्म का एक प्रसिद्ध सूत्र है—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥

अतीत काल में जितने तीर्थंकर हुए हैं या भविष्य में भी जितने तीर्थंकर होंगे उन सबका आधार है शान्ति। जैसे सब जीवों का आधार है पृथ्वी, वैसे सभी तीर्थंकरों का आधार है शान्ति।

आज की सबसे बड़ी समस्या है-अशान्ति। आज के संसार को जितनी शान्ति की जरूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं रही होगी। इसलिए नहीं रही कि दुनिया इतनी छोटी कभी नहीं बनी। इतने द्रुतगामी वाहन कभी नहीं बने और इस प्रकार के प्रक्षेपास्त्र तथा संहारक अस्त्रों का निर्माण सामूहिक रूप में शायद कभी नहीं हुआ। इसलिए आज के संसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को शान्ति की सबसे बड़ी जरूरत है। आज विश्व-शान्ति की बात उन राष्ट्रों को और ज्यादा अच्छी लगती है, जो दूसरे महायुद्ध की यातना को भोग चुके हैं।

इस संदर्भ में जैन धर्म को पढ़ना, जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर को पढ़ना, उनके महान आधार शान्ति और शान्ति के संदेश को पढ़ना मानव-जाति के लिए सबसे अधिक कल्याणकारी बात है। चाहे प्रागैतिहासिक काल में जाएं, ऋषभ के निकट पहुंचें और चाहे ऐतिहासिक काल में महावीर के निकट पहुंचें, दोनों की एक ही बात है। दोनों ने जिस धर्म का निरूपण किया, वह धर्म है सत्य, कैवलिक और सब दु:खों से मुक्ति देने वाला यानी दु:ख-मुक्ति का मार्ग। धर्म के ये तीन लक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

धर्म का पहला लक्षण है कि वह सत्य है। यानी यथार्थवादी है, काल्पनिक नहीं है। वह यथार्थवाद का निरूपण करने वाला है। जहां सत्य नहीं, जो धर्म कल्पना के सहारे चलता है, जिस धर्म में स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय है, वह धर्म बहुत कल्याणकारी नहीं होता। जैन धर्म निर्वाणवादी धर्म है। वह स्वर्गवादी धर्म नहीं है। भगवान महावीर के लिए कहा गया— **'निव्वाणवादी णिह णायपुत्ते'**— निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र महावीर श्रेष्ठ हैं।

दो परम्पराएं थीं। एक थी स्वर्गवादी परम्परा और एक थी निर्वाणवादी या मोक्षवादी परम्परा। स्वर्गवादी परम्परा का उद्देश्य था, ऐसा काम करना, जिससे स्वर्ग मिले, सुख मिले। निर्वाणवादी परम्परा का उद्देश्य था बंधन को तोड़ना, बंधन का उच्छेद करना और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध हो जाना, चैतन्य को उपलब्ध हो जाना, परमात्मा पद को प्राप्त हो जाना। उसमें न नरक का भय था और न स्वर्ग का प्रलोभन। जहां भय और प्रलोभन धर्म के साथ जुडते हैं, धर्म लौकिक बन जाता है। उसकी लोकोत्तर सत्ता समाप्त हो जाती है।

पदार्थ के साथ दो बातें जुड़ी हुई हैं। उसके साथ भय भी जुड़ा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रलोभन भी जुड़ा है। एक पदार्थवादी धारा और दूसरी निर्वाणवादी धारा। पदार्थ के साथ दो बातें जुड़ी हैं, वही बात यदि धर्म के साथ जुड़ जाए तो पदार्थ और धर्म में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती। उन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। फिर जो काम पदार्थ से होता है, वह काम धर्म से होगा और जो धर्म से होता है, वह काम पदार्थ से होगा। फिर पदार्थ से धर्म को अलग करने की कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होती।

निर्वाणवाद का सिद्धान्त पदार्थातीत चेतना के विकास का सिद्धान्त है। जो काम पदार्थ से नहीं हो सकता, लौकिक जगत में नहीं हो सकता, वस्तु जगत में नहीं हो सकता, वह काम धर्म के द्वारा हो सकता है, चैतन्य जगत में हो सकता है। इसलिए पदार्थ जगत नीचे रह जाता है, संवेदना का जगत नीचे रह जाता है, आत्मा का जगत ऊपर चला जाता है। वह संवेदनातीत हो जाता है। जैन धर्म निर्वाणवादी धर्म है इसलिए वह सत्य है, यथार्थ है, संवेदना से ऊपर है, कल्पना से ऊपर है, स्वर्ग के सुख और नरक के भय से भी अतीत है।

जैन धर्म कैवलिक है। जिस व्यक्ति को केवल आत्मा का अनुभव हो चुका, उस व्यक्ति के द्वारा कहा हुआ है जैन धर्म। परोक्षज्ञानी के द्वारा कहा हुआ नहीं है। उस व्यक्ति के द्वारा कहा हुआ है जिसने समग्र सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। आदमी सोच सकता है कि समग्रता से सत्य का साक्षात्कार करने वाला कब हुआ, कैसे हुआ। यह तर्कशास्त्र का एक प्रश्न भी हो सकता है। ऐसा प्रश्न तर्कशास्त्र में उपस्थित किया गया। उसका समाधान भी दिया गया। जैन आचार्यों ने कहा कि सर्वज्ञ होता है। दूसरे दार्शनिकों ने कहा कि सर्वज्ञ नहीं होता। बहुत सीधा सा तर्क प्रस्तुत किया गया। आप कहते हैं कि सर्वज्ञ नहीं हुआ तो यह किस आधार पर कहते हैं। क्या आप सर्वज्ञ हैं? सर्वज्ञ वह होता है, जो सब देशों को जानता है, सब कालों और सब भावों को जानता है। यदि आप सब देश, सब काल और सब भावों को नहीं जानते हैं तो आप कैसे कह सकते हैं कि कभी कोई सर्वज्ञ हुआ ही नहीं। बहुत सीधी और समझ में आने वाली बात है। जैन तार्किकों ने, दार्शनिकों ने इस बात का समर्थन किया कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर सर्वज्ञ थे, सर्वद्रष्टा थे। उन्होंने अपनी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता के आधार पर धर्म का प्रतिपादन किया। यह जैन धर्म का दूसरा लक्षण है कि वह कैवलिक है, साक्षात्द्रष्टा के द्वारा कहा हुआ है।

धर्म का तीसरा लक्षण है कि वह दु:ख की मुक्ति का मार्ग है। जिस धर्म से हमारे दु:खों की मुक्ति नहीं होती, दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता, वह बहुत मूल्यवान धर्म नहीं होता। एक ओर है संसार, बंधन और दुख। संसार का मतलब है बंधन और बंधन का मतलब है दु:ख। आदमी दुख पा रहा है। आदमी बंध रहा है और संसार की परिक्रमा कर रहा है। उस स्थिति में, उसके विपरीत जाकर जो संसार को कम करे, बंधन को काटे और दु:खों को क्षीण करे, वह धर्म हमारे लिए मूल्यवान होता है। जैन धर्म ने बंधन-मुक्ति का मार्ग दिखाया। बंधन को कैसे काटा जा सकता है, यह मार्ग बताया। उसका सूत्र है—बंधन को जानो और बंधन को तोड़ो। पहले बंधन का ज्ञान कराया और फिर बंधन को तोड़ने की बात सिखायी कि बंधन को कैसे तोड़ा जा सकता है। इसलिए जैन धर्म दु:ख-मुक्ति का मार्ग है। हम बहुत प्राचीन का आग्रह नहीं करते। जो धर्म बहुत पुराना है, वह बहुत अच्छा है, ऐसा कहना पसन्द नहीं करते। जरूरी नहीं कि जो पुराना हो, वह अच्छा ही हो और जो नया हो, वह अच्छा न हो। फिर भी यह वास्तविकता है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है। इतिहासकाल से परे भी है। काल की अवधि बहुत छोटी मानी गई है। महाभारत को पांच हजार वर्ष पहले माना गया। उस समय जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर थे। उससे पहले और चलते चलें। काल की अवधि लम्बी होती चली जाती है। भगवान ऋषभ तक पहुंचते-पहुंचते एक सुदूर काल आता है। इतनी लम्बी काल की अवधि में, जैन धर्म में नाम और रूपों का परिवर्तन आया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हजारों वर्षों के बाद भाषा बदल जाती है। हजारों वर्षों के बाद नाम बदल जाते हैं। हजारों वर्षों के बाद रूप और आकार बदल जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि 'जैन धर्म' — यह नाम बहुत पुराना है। जैन धर्म का तत्त्व पुराना है। यह निर्वाणवाद पुराना है। जैन धर्म का जो आधार रहा शान्ति, वह बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराना है। आधार पुराना, तत्व पुराना, किन्तु नाम पुराना नहीं कहा जा सकता। शायद महावीर के जमाने में भी 'जैन धर्म' जैसा नाम नहीं था। भगवान महावीर के लगभग दो सौ वर्षों के बाद संभवत: 'जैन धर्म', यह नाम पड़ा। इससे पहले 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' नाम था। महावीर के समय 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' नाम था। उससे पहले नाम था, 'अर्हत धर्म','श्रमण धर्म','श्रमण परम्परा।'

जैन साहित्य में कुछ ऐसा मिलता है कि भगवान ऋषभ को अर्हत कहा गया। भगवान पार्श्व को भी अर्हत कहा गया। महावीर को श्रमण भगवान महावीर कहा गया। उन्हें अर्हत नहीं कहा गया। यह ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण भेद है। प्राचीन तीर्थंकरों को अर्हत कहा गया। महावीर को श्रमण कहा गया। महावीर के बाद कोई तीर्थंकर नहीं हुआ। होता तो उसे जैन कहा जाता। नाम बदलते रहे। पार्श्वनाथ के समय में जो जैन मुनियों की वेशभूषा थी, वह महावीर के समय में बदल गई। इसीलिए पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों का जब मिलन हुआ तो दोनों के मन में विचिकित्सा पैदा हो गई। संदेह हुआ कि यह क्या? इनकी वेशभूषा दूसरी और हमारी वेशभूषा दूसरी। यह नाम का भेद, रूप का भेद, आकार का भेद, भाषा का भेद, हजारों वर्षों के अंतराल में होता आया है। ये सब परिवर्तनशील हैं और जैन दर्शन इन सब पर्यायों को शाश्वत नहीं मानता, परिवर्तनशील मानता है। किन्तु इन परिवर्तन के बीच जो एक अपरिवर्तित तत्त्व है, वह है निर्वाणवाद, यथार्थवाद। इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। जिस निर्वाणवाद का भगवान ऋषभ ने प्रवर्तन किया, उसी निर्वाणवाद का भगवान महावीर ने प्रवर्तन किया। जिस आत्मानुभूति के बाद भगवान ऋषभ ने धर्म का प्रवर्तन किया, उसी आत्मानुभूति के बाद भगवान महावीर ने धर्म का प्रवर्तन किया। इस निर्वाणवादी परम्परा को आज हम जैन धर्म के नाम से पहचानते हैं और इनके प्रवर्तकों को जैन धर्म के प्रवर्तक के रूप में जानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान

अनुभव और तर्क के आधार पर अनेक दृष्टियां विकसित हुई हैं। अनुभव और चिन्तन के तारतम्य से ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। परिभाषाओं की संरचना में भी अन्तर है। भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण ब्राह्मण और श्रमण—इन दो धाराओं में किया जा सकता है। मीमांसक और वेदान्त ब्राह्मण-धारा के दर्शन हैं। जैन और बौद्ध श्रमण-धारा से जुड़े हुए हैं। न्याय-वैशेषिक भी मूलतः ब्राह्मण-धारा के नहीं रहे हैं। यह परम्परा-स्रोत के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण है। यह अहेतुक नहीं है। फिर भी इससे यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह संख्या क्षेत्र में अपेक्षित है। सांख्य और जैन दर्शन में जो चिन्तन का सामीप्य है, वह सांख्य और मीमांसा दर्शन में नहीं है। वैशेषिक के परमाणुवाद और वेदान्त के ब्राह्मवाद में कोई समानता नहीं है। इसलिए चिन्तन-धाराओं का वर्गीकरण अपेक्षित है। परम्पराओं के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण दार्शनिक विकास और मूल्यांकन में विशेष उपयोगी नहीं है। अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों ने चिन्तन के आधार पर दर्शनों का वर्गीकरण कर दर्शन के क्षेत्र में एक नया अध्याय जोड़ा था। उससे मूल्यांकन का दृष्टिकोण बदल जाता है। किसी एक दर्शन के आधार पर तटस्थ मूल्यांकन करना सम्भव नहीं लगता। दृष्टियों के आधार पर वह सम्भव हो सकता है। जैन दार्शनिकों ने दृष्टियों के आधार पर दर्शनों की समीक्षा की। उन्होंने किसी की दृष्टि को हेय या असत्य घोषित नहीं किया। सत्यानुसन्धान की एक दृष्टि को इतर दृष्टियों से जोड़कर उसकी सत्यता का प्रतिपादन किया। अभेद-दृष्टि का जितना विकास वेदान्त ने किया, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भेददृष्टि के विकसित प्रतिपादन में बौद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे आगे हैं। जैन दर्शन ने अभेद और भेद में अविरोध की स्थापना की। उसके अनुसार अभेद और भेद सापेक्ष हैं। उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता । अभेद और भेद— दोनों एक ही पदार्थ को देखने की दो दृष्टियां हैं। सामान्य की दृष्टि से देखने पर अभेद ही अभेद फलित होता हैं और विशेष की दृष्टि से देखने पर भेद ही भेद फलित होता है। दोनों दृष्टियां संयुक्त होती हैं तब सत्य का दर्शन होता है। सांख्य-सम्मत आत्मा कूटस्थ है और बौद्ध-सम्मत आत्मा क्षणिक है। अपरिणामी आत्मा का विकास जितना सांख्य ने किया उतना अन्य दृष्टि में उपलब्ध नहीं है। परिणामी चेतना के प्रतिपादन में बौद्धों ने बहुत सफलता प्राप्त की। जैन-दर्शन ने आत्मा को परिणामी-नित्य स्थापित कर दोनों दृष्टियों को समन्वित कर दिया। जैन दर्शन ने यह घोषणा की—कोई भी दृष्टि असत्य नहीं है, प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है, किन्तु दूसरी दृष्टियों से सापेक्ष हुए बिना वह पूर्ण सत्य नहीं बनती। इस घोषणा ने दार्शनिक मूल्यांकन का सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। आश्चर्य है कि दार्शनिकों ने इस घोषणा पर ध्यान नहीं दिया। यदि इस पर ध्यान दिया जाता तो दर्शनों के परस्पर खंडन-मंडन या जय-पराजय की बात नहीं होती। जो शक्ति परस्पर खंडन-मंडन में लगी वह विभिन्न दृष्टियों के मूल्यांकन में लगती और दर्शन के व्यवस्थित विकास की परम्परा का सूत्रपात हो जाता।

जागतिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में प्रत्येक दर्शन भागीदार है। कोई दर्शन किसी एक समस्या को सुलझाने में सफल हुआ है और कोई दूसरी समस्या को सुलझाने में। यदि सभी दृष्टियों में सत्यांश की अनुभूति हो तो मूल्यांकन का दृष्टिकोण स्वस्थ होगा। यदि एक दृष्टि को पूर्ण सत्य मानकर दूसरी दृष्टियों का मूल्यांकन किया जाए तो दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं होगा। जैन दर्शन ने अनेकान्त दर्शन की स्थापना कर सभी दर्शनों को सापेक्ष दृष्टि से देखा और सभी दर्शनों के मध्य वह समन्वय-सेतु बन गया। अहिंसा और मैत्री के विकास का आधार यह समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण ही है। हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है।

वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यापन का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाएं हैं। जितनी अपेक्षाएं हैं उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते है। बस, यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता हैं—अनेकान्त या सत्-एकान्त-दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त-दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था में था? उसके आस-पास की परिस्थितियां कैसी थीं। उसका शब्द किस शब्दशक्ति से अन्वित था? विवक्षा में किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्य को लिए चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियां कैसी थीं? तत्कालीन सामयिक स्थितियां कैसी थीं? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू में तोलते है।

सत्य जितना उपादेय है उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप में सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे को सत्य को ग्रहण कर सकता है।

इसलिए भगवान महावीर ने बताया— 'प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।'

दूसरों के प्रति ही नहीं उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरो को भी समझने की भी चेष्टा करो। यही है अनेकान्तदृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है बौद्धिक अहिंसा। इसके विकास में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिक दृष्टिकोण

सत्य क्या है, यह प्रश्न बहुत लम्बे समय से पूछा जाता रहा है। प्रत्येक दर्शन ने इस पर विचार किया और इसका समाधान देने का प्रयत्न किया। जैन दर्शन ने भी इस पर विचार किया, सत्य को देखने की दृष्टियां दीं। प्रश्न है— क्या मिट्टी सत्य है या घड़ा सत्य है? प्रश्न है कि क्या रुई सत्य है या कपड़ा सत्य है? रुई से कपड़ा बनता है। रुई मिट जाती है, कपड़ा बनता है। मिट्टी मिटती है, घड़ा बनता है। सत्य क्या है? रुई सत्य या कपड़ा सत्य? मिट्टी सत्य या घड़ा सत्य? अब इस सत्य को समझने के लिए दृष्टिकोण चाहिए। जब दृष्टिकोण सही नहीं होता, तब समझा नहीं जा सकता। आज कपड़ा है। उसे पहना गया। वह पुराना होगा, एक दिन फट जाएगा और कपड़ा भी समाप्त हो जाएगा। घड़ा भी फूट जाएगा, समाप्त हो जाएगा। कपड़ा कहां गया? घड़ा कहां गया? क्या सदा के लिए समाप्त हो गया? क्या सब कुछ समाप्त हो गया?

जैन दर्शन ने कहा कि दो दृष्टियों से देखो। एक दृष्टि का नाम है द्रव्यार्थिकदृष्टि और दूसरी का नाम है पर्यायार्थिकदृष्टि। एक दृष्टि का नाम है निश्चयदृष्टि और दूसरी दृष्टि का नाम है व्यवहारदृष्टि। द्रव्य की दृष्टि से देखो और पर्याय की दृष्टि से देखो। दोनों दृष्टियों से सत्य को देखो तो सत्य का पता चलेगा। एक दृष्टि से देखोगे तो सत्य का पता नहीं चलेगा। मिट्टी थी। घड़ा बना। घड़ा भी फूट गया। पर परमाणु समाप्त नहीं हुआ। मिट्टी भी परमाणु से बनी। घड़ा भी परमाणु से बना। मिट्टी भी एक अवस्था है। घड़ा भी एक अवस्था है। दोनों मिट गए। परमाणु नहीं मिटा। जैन दर्शन ने एक सिद्धान्त दिया कि इस जगत में जितने तत्त्व हैं, उतने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही रहेंगे। उतने ही थे। एक भी परमाणु, एक भी तत्त्व न तो नया पैदा होगा और न जो है वह नष्ट होगा। जितने हैं, उतने ही रहेंगे। न कोई नया जन्मता है और न कोई पुराना मरता है। कुछ भी नहीं होता। जन्म और मृत्यु कुछ नहीं है। नया कुछ होता ही नहीं। केवल परिवर्तन, केवल रूपांतरण। यदि हम इस परिवर्तन को सत्य मानें तो वास्तविक सत्य नहीं होगा, अधूरा सत्य होगा, पूरा सत्य नहीं होगा। पूरा सत्य तब होगा कि परमाणु भी सत्य है, मिट्टी भी सत्य है और घड़ा भी सत्य है। अगर घड़े को ही सत्य मान लें तो घड़ा फूटा, सत्य कहां गया?

एक संतरा है, केला है, आम है, सत्य है। सत्य इसलिए कि खाया और तृप्ति मिली। सत्य तो है, पर केवल वही सत्य है, ऐसा नहीं। संतरा खा लिया तो इसका मतलब है कि सत्य को भी खा लिया और सत्य समाप्त हो गया। केला समाप्त हुआ और सत्य भी समाप्त हो गया। आम खाया, आम समाप्त हुआ और सत्य भी समाप्त हो गया। यह सत्य तो है पर एकांगी सत्य है। अधूरा सत्य है। पूरा सत्य क्या है? केला समाप्त हो सकता है, क्योंकि वह एक अवस्था है। आम समाप्त हो सकता है, संतरा समाप्त हो सकता है पर परमाणु समाप्त नहीं होता।

गाय को दुहा। दूध निकला। वह गोरस है। दूध भी गोरस है। दूध में जामन दिया, वह भी गोरस है। दूध मिटा और दही बना। दही क्या है? वह भी गोरस है। दूध से दही बन गया, दूध मिटा, दही बना। पर गोरस दोनों हैं। दूध भी गोरस और दही भी गोरस। गोरस मिटा। बचा क्या? परमाणु बचे।

एक है मूल द्रव्य और दूसरा है मूल द्रव्य में होने वाला परिवर्तन। दोनों को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। दोनों संयुक्त चलते हैं। वह द्रव्य भी है और उसमें होने वाला परिवर्तन भी है। परिवर्तन सत्य है, यह जानने वाली दृष्टि है पर्यायार्थिक नय। मूल द्रव्य सत्य है, यह जानने वाली दृष्टि है द्रव्यार्थिक नय। इन दो दृष्टियों से हम देखते हैं तब हमें पूर्ण सत्य का पता चलता है। कुछ दार्शनिक हैं, जो केवल द्रव्य को मानते हैं, पर्यायों को नहीं मानते। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो केवल पर्यायों को मानते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य को नहीं मानते। ये दोनों एकांगी दृष्टिकोण हैं। इस पर जैन आचार्यों ने कहा कि अगर ऐसा मानें तो हमारा व्यवहार नहीं चलेगा। हमारे व्यवहार के तीन अंग है—प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा (तटस्थता, मध्यस्थता)।

हमें अच्छा लगता है, उसके लिए हम प्रवृत्ति करते हैं। यानी सुख के लिए प्रवृत्ति करते हैं। दु:ख से निवृत्ति करते हैं। दु:ख से दूर होना चाहते हैं। जिस व्यवहार से न सुख मिलता, न दु:ख मिलता, उसमें हम तटस्थ रहते हैं, मध्यस्थ रहते हैं। हमारे व्यवहार के ये तीन अंग हैं। यह व्यवहार परिवर्तन और स्थायी तत्त्व— दोनों के आधार पर चलता है। अगर परिवर्तन न हो तो व्यवहार नहीं चलेगा। हमें सुख नहीं मिलता तो फिर हम प्रवृत्ति क्यों करें? कोई भी आदमी यह सोचे कि व्यापार तो करूं, किन्तु धन तो मिलने वाला नहीं है। तब वह व्यापार किसलिए करेगा? व्यापार करने वाला इसलिए करता है कि धन मिलेगा।

एक आचार्य ने लिखा, तीन लोग एक स्वर्णकार की दुकान पर गए। इसलिए गए कि एक आदमी को सोने के एक कलश की जरूरत थी और वह सुनार के पास था। दूसरा आदमी इसलिए गया कि सुनार के पास सोने का एक मुकुट बनवाना है। तीसरा इसलिए गया कि उसे सोना खरीदना है। तीन आदमी, तीन इच्छाएं और तीनों एक साथ गए। पहला गया और बोला— स्वर्णकारजी! सोने का कलश चाहिए। दूसरा बोला—मुझे सोने का मुकुट चाहिए। तीसरा बोला—मुझे सोना चाहिए। कलश बना-बनाया था। किन्तु मुकुट बना हुआ नहीं था।

सोने का कलश है तो भी सोना है। मुकुट बनाए तो भी सोना है। दोनों सोना हैं। स्वर्णकार को लाभ दिखा कि मुकुट बनाऊंगा तो पैदा ज्यादा होगी। उसने कलश को गलाया और मुकुट बनाना शुरू कर दिया। सोने का कलश टूटा और मुकुट बनना शुरू हुआ। उस समय क्या हुआ कि तीन अवस्थाएं तीन जनों में हो गई। जिसे सोने का कलश चाहिए था, वह सोचने लगा कि बना-बनाया कलश था, स्वर्णकार कितनी मूर्खता कर रहा है? इस कलश को गलाकर इसका मुकुट बना रहा है। मन में शोक पैदा हो गया। दूसरा आदमी था। उसके मन में हर्ष पैदा हुआ कि देखो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे मन की भावना पूरी हो गई। मुकुट बन रहा है। एक को शोक और दूसरे को हर्ष। तीसरे ने कहा— कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे कलश हो, चाहे मुकुट हो, सोना सोना है। मुझे तो जो मिलेगा, वही ठीक है।

ये तीन प्रकार की मानसिक दशाएं बनीं। अकारण नहीं बनीं, अहेतुक नहीं बनीं। तीनों के पीछे हेतु है। एक अवस्था का विनाश होता है तो शोक होता है। दूसरी अवस्था पैदा होती है तो हर्ष होता है। तीसरी अवस्था बराबर है। सोना सोना है। वह मध्यस्थ है। द्रव्य को, सचाई को देखने की दो दृष्टियां हैं। एक द्रव्य को देखने की, दूसरी परिवर्तन या पर्याय को देखने की। इन दोनों दृष्टियों से सत्य को देखा जाए तो समग्र सत्य को देखा जा सकता है।

जैन दर्शन ने इन दोनों नयों के द्वारा जगत की व्याख्या की, सत्य की व्याख्या की। इसके आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। पर्याय के बिना द्रव्य को नहीं जाना जा सकता और द्रव्य के बिना पर्याय को नहीं जाना जा सकता है। दोनों सापेक्ष होते हैं। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते है। एक अखण्ड वस्तु और एक वस्तु के खण्ड-खण्ड। अखण्ड को जानने की दृष्टि द्रव्य की दृष्टि है। खण्ड को जानने की दृष्टि पर्याय की दृष्टि है।

एक बच्चा पैदा हुआ। पांच वर्ष का हुआ, शिशु बना। नवजात से जात बना। दस वर्ष का हुआ। किशोर बना। फिर दस वर्ष का और हुआ, युवा बना। सौ वर्ष का आदमी और दस-दस वर्ष की दस अवस्थाएं। पहले दस वर्ष में जीया, दूसरे दस वर्ष में जीया, एक-एक अवस्थाएं होती गईं। अब क्या दस वर्ष के बच्चे को और सौ वर्ष के आदमी को एक ही माना जाएगा? एक नहीं माना जा सकता। बुढ़ापे में जो स्थितियां बनीं, वे बचपन में नहीं थीं। जो बचपन में थीं, वे बुढ़ापे में नहीं हैं। हम खण्ड-खण्ड करके देखें, टुकड़ों में देखें। एक आदमी को दस वर्ष में देखा और उसी को नब्बे वर्ष में देखते हैं तो पहचान में नहीं आएगा। जब दस वर्ष में देखा था तो केश काले थे। दांत मजबूत थे। चेहरा खिला हुआ था। जब नब्बे वर्ष में देखा तो केश सफेद हो गए या झड़ गए, दांत गिर गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में झुर्रियां पड़ गईं। पहचाना नहीं जा सकता कि यह वही आदमी है। यह पहचान का अन्तर इसीलिए आया कि जो दस वर्ष का था, वह अब नहीं रहा, दूसरा हो गया। पर दूसरा हो जाने पर भी हम पहचान लेंगे कि यह वही है, जिसे हमने देखा था। जिसके बारे में हमने सुना था। दीपक जलता है। लौ जलती चली जाती है। पहली लौ चली गई। समाप्त हो गई। दूसरी आई, तीसरी आई, चौथी आई। लौ बदलती रहती है। दीया एक जलता है। नदी बह रही है। पानी का पहला प्रवाह आया, चला गया। दूसरा आया और चला गया। प्रवाह नहीं टूटता। पानी बदलता चला जाता है।

आपके नाखून बढ़ते हैं। बढ़ा और काटा। फिर बढ़ा और काटा। बढ़ते जाते हैं, कटते जाते हैं। लगता यही है कि वही नाखून है। लगता है कि वही दीपशिखा है। एक समान लगता है। प्रवाह चलता चला जाता है। एक है प्रवाह को समझने की दृष्टि और एक है प्रवाह के साथ बदलती धारा की दृष्टि। ये दोनों दृष्टियां एक साथ जुड़ी हुई हैं। जैन दर्शन ने इसके आधार पर सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया। जो व्यक्ति सापेक्षता को नहीं समझता, वह सचाई को नहीं समझ पाता। एक दार्शनिक उदाहरण इस पर बहुत महत्त्वपूर्ण घटित होता है।

राजा ने चित्रकारों को बुलाया और कहा—चित्र बनाओ। मेरा चित्र बनाओ और जो सबसे बढ़िया चित्र बनाएगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। चित्रकार आए और देखा। चित्र बनाने की बात सोची। राजा परीक्षा लेता गया। परीक्षा में आखिर तीन चित्रकार ठहरे, शेष सब फेल हो गए। तीनों ने चित्र बनाए। राजा के सामने पहला चित्र आया। राज ने देखा तो कहा—चित्र तो बहुत सुन्दर बना है, पर झूठा बना है। राजा था काना। चित्रकार ने सोचा—अब काना कैसे दिखाऊं? इसलिए दोनों आंखें दिखा दीं। राजा ने कहा—गलत चित्र है, झूठा है। असत्य है। मैं असत्य को पसन्द नहीं करता। दूसरा चित्र देखा। चित्र बहुत भव्य था। राजा बोला—चित्र तो ठीक है पर अर्धनग्न सत्य भी मुझे पसन्द नहीं है। उस चित्र में राजा को काना दिखाया गया था। उसे अस्वीकार कर दिया। तीसरा चित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा ने देखा और वह मुग्ध हो गया। उसने कहा— कितना बढ़िया चित्र है। चित्रकार ने बड़ी निपुणता के साथ चित्र बनाया था। उसने राजा को शिकार खेलते हुए दिखाया था। हाथ में धनुष। प्रत्यंचा तनी हुई। मुट्ठी बंधी हुई और उसकी ओट में आंख आ गयी। न तो कानापन दिखायी देता है और न ही झूठी बात। दोनों नहीं। राजा ने कहा—यह मुझे पसन्द है, सबसे बढ़िया है और इसको प्रथम पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

वह पुरस्कृत हो गया, जिसने सापेक्षता का प्रयोग किया। नग्न सत्य भी काम का नहीं होता, असत्य भी काम का नहीं होता। सापेक्षता से हमारा व्यवहार चलता है, उससे सचाई का पता चलता है। यह सापेक्ष दृष्टिकोण है कि द्रव्य पर्याय से सापेक्ष और पर्याय द्रव्य से सापेक्ष। दोनों का जहां योग होता है, वह सापेक्षता है। द्रव्य के बिना पर्याय का निरूपण करना और पर्याय के बिना द्रव्य का प्रतिपादन करना अयथार्थ है। द्रव्य और पर्याय यानी मूल तत्त्व और परिवर्तन दोनों को एक साथ में दिखा देना, यह सापेक्षता है।

जैन दर्शन ने सापेक्ष दृष्टि का विकास किया। यह दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इसके आधार पर प्रत्येक द्रव्य को जुड़ा हुआ जाना जा सकता है। हम किसी एक बात को जानें। यह एक कपड़ा है। एक कपड़े को जानना है। क्या आप इस एक कपड़े को जान सकते हैं? नहीं जान सकते। यदि आपमें सापेक्षदृष्टि का विकास नहीं है तो एक कपड़े को नहीं जान सकते। एक कपड़े को जानने के लिए आपको क्या-क्या जानना पड़ेगा कि सबसे पहले कहां बना, इसे जानना होगा। किस समय, काल को जानना होगा। किस व्यक्ति ने बनाया, यह जानना होगा। किस फैक्टरी में बना, यह जानना होगा। जिस आदमी ने बनाया, वह कहां से आया? रुई कहां से आई, रुई किसने पैदा की? किस खेत में पैदा हुई? एक-एक को जानते चलें। सारे संसार को जानकर ही आप इस कपड़े को जान सकते हैं। सारे संसार को जाने बिना इस एक कपड़े को नहीं जाना जा सकता। एक आदमी को जानना, एक कपड़े को जानना, किसी एक चीज को जानना, इसका अभिप्राय है कि सारे संसार को जानना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा। सब पदार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो एक-दूसरे से कटा हुआ हो। जानना पड़ेगा। यह लड़का है। इसका पिता, इसकी मां, मां की मां, फिर उसकी मां की मां, चलते चलें, बाप,बाप का बाप, फिर बाप का बाप। वह कहां से आया, कैसे जीया, वह कहां पैदा हुआ, उसका किन पर प्रभाव पड़ा, कहां पढ़ा, किसने पढ़ाया। एक-एक बात पर विचार करते चले जाएं। कुछ पता ही नहीं चलेगा। इसलिये जैन दर्शन ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया— **'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ'**। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है जो सबको जानता है, वही एक को जान सकता है। यानी सबको जाने बिना एक को नहीं जाना जा सकता और एक को जाने बिना सबको नहीं जाना जा सकता।

हमारा सारा संसार सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है। कोई भी पदार्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है। सब जुड़े हुए हैं। यह एक महान दार्शनिक दृष्टिकोण है—निश्चय का दृष्टिकोण। आप किसी को अलग नहीं कर सकते। इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि सारा संसार तेरा परिवार है। सब आपस में जुड़े हुए हैं। कोई अलग नहीं है। दो-चार भाई आए। बैठे। बातचीत हुई। एक ने कहा— यह मेरा भाई है। किसी ने कहा—यह मेरा मामा है। किसी ने कहा— यह मेरा पिता है। एक ही व्यक्ति किसी का भाई बन गया, किसी का मामा बन गया और किसी का बेटा बन गया। एक व्यक्ति के साथ हजारों सम्बन्ध। सम्बन्धों का ऐसा ताना-बाना बुना हुआ है कि एक व्यक्ति लाखों-करोड़ों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह तो बहुत स्थूल बात है। सूक्ष्म जगत में जाएं तो सम्बन्धों का सिलसिला इतना लम्बा है कि मनुष्य कभी अलग हो ही नहीं सकता।

हम स्थूल सचाई को देखते हैं तो हमारी दृष्टि स्थूल होती है। किन्तु जब सूक्ष्म सचाई को देखना होता है तो दृष्टि भी सूक्ष्म चाहिए।

जैन दर्शन ने दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया—एक सूक्ष्म दृष्टि और दूसरी स्थूल दृष्टि। हम स्थूल दृष्टि से देखते हैं तो कपड़ा सफेद है, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तब निष्कर्ष आएगा कि यह कपड़ा सफेद ही नहीं है। यह काला भी है, पीला भी है, नीला भी है, लाल भी है, सब कुछ है। क्या यह समझ में आने वाली बात है? आप सूर्य का प्रकाश देखते हैं। आपको सफेद दिखाई देगा। सूर्य की एक किरण में सातों रंग दिखाई देंगे। बहुत सारी बातें स्थूल दृष्टि से नहीं दिखाई देती, सूक्ष्म दृष्टि से दीखने लग जाती हैं। खुली आंखों से देखते हैं तो कुछ भी दिखाई नहीं देता और जब सूक्ष्म यंत्रों के द्वारा देखते हैं तो पता नहीं, कितने जीवन दिखाई देने लगते हैं। बहुत महत्त्वपूर्ण नय है—निश्चय नय, जिसमें वस्तुस्थिति का पता चलता है।

एक बार एक वैज्ञानिक ने एक कली का फोटो लिया और उसमें फोटो आया पूरे फूल का। बड़ा आश्चर्य हुआ। फोटो लिया कली का और आया फूल का। दूसरे दिन उसी कली का फोटो लिया, जो फूल बन गया था। उसमें पूरे फूल का फोटो आया। दोनों मिलाए तो वैसा ही फोटो आया जो पहले दिन आया था। निष्कर्ष निकाला कि सूक्ष्म जगत में कली फूल बन गई थी। हमारे स्थूल-जगत में कली अब फूल बनी। सूक्ष्म जगत में घटना पहले घटित हो जाती है और स्थूल जगत में वह घटना बाद में आती है। इस आधार पर आज बहुत सारे निष्कर्ष सामने आ गए। चिकित्सा के क्षेत्र में कहा जाता है कि सूक्ष्म शरीर में बीमारी पहले हो जाती है और स्थूल शरीर में बाद में प्रकट होती है। किसी शरीर में कैंसर हो गया। पता नहीं चलता। बहुत बाद में पता चलता है। एक सूक्ष्म जगत को देखने वाली दृष्टि और एक स्थूल जगत को देखने वाली दृष्टि। दो प्रकार की दृष्टियां है। जिस दृष्टि से हम सूक्ष्म जगत को देखते हैं, उसका नाम है निश्चय नय और जिस दृष्टि से हम स्थूल जगत को देखते हैं उसका नाम है व्यवहार नय।

जैन धर्म ने सच्चाई को देखने के लिए दो दृष्टियों का निर्माण किया। एक द्रव्यार्थिक दृष्टि और एक पर्यायार्थिक दृष्टि। दूसरा विकल्प है—निश्चय नय और व्यवहार नय। यानी भेद को देखने वाला दृष्टिकोण और अभेद को देखने वाला दृष्टिकोण। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है जैन दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का। कोई भी भेद ऐसा नहीं, जिसके साथ अभेद न हो। कोई भी अभेद ऐसा नहीं, जिसके साथ भेद न हो। भेद और अभेद दोनों को जानने वाले दृष्टिकोण का नाम है अनेकान्त दृष्टिकोण, सर्वग्राही दृष्टिकोण। जहां कोई आग्रह नहीं, विग्रह नहीं। सबका संग्रह करने वाला दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण ने सचाइयों को उद्घाटित किया, अनावृत किया। इस दृष्टिकोण को समझकर वस्तुगत सचाइयों को जानें, देखें, परखें तो वास्तविकता का पता चलेगा और सारे संसार को, जगत को जानने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें प्राप्त होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत और ईश्वर

हम जिस जगत में जी रहे हैं, वह जगत आज भी रहस्य बना हुआ है। रहस्य को अनावृत करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के चिन्तन किए और अपने-अपने चिन्तन प्रस्तुत किए। जैन दर्शन ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया—जगत के विषय में भी और हमारे अस्तित्व के विषय में भी। वे दोनों विषय जानने योग्य हैं तथा तार्किक और दार्शनिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं। जहां जगत का प्रश्न है,वहां ईश्वर का प्रश्न अपने आप जुड़ जाता है और इसलिए जुड़ता है कि जगत कब बना, किसने बनाया और कैसे बनाया? ये तीन प्रश्न जगत के बारे में प्रस्तुत किए। इस विषय में जैन दर्शन का चिन्तन रहा कि यह जगत अकृत्रिम है। किसी ने बनाया नहीं। कभी बना नहीं। कैसे बना, इसका प्रश्न ही समाप्त। यह अनादिकाल से है। न इसका आदि है और न इसका अन्त। बात समाप्त हो जाती है। यह चिन्तन इसलिए प्रस्तुत किया गया कि जगत को कृत मानें तो बहुत सारी समस्याएं पैदा होती हैं। ऐसे जटिल प्रश्न पैदा होते हैं, जिनका समाधान कोई दीखता नहीं है। यदि किसी ने जगत को बनाया तो जगत अलग हो गया और बनाने वाला जगत से अलग हो गया। जगत अलग, कर्ता अलग। अलग आया कहां से? वह जगत में है या अजगत में? अगर बनाने वाला जगत में नहीं है तो फिर दो जगत बन गए। एक कोई वैसा जगत है, जिसमें यह जगत नहीं है। बहुत बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। फिर ईश्वर की प्रकृति और जगत की प्रकृति का मेल भी नहीं है। ईश्वर तो है चेतन और जगत में अचेतन भी है। दोनों की प्रकृति में मेल नहीं है। फिर अचेतन आया कहां से? जगत आया कहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से? कहीं बाहर से कुछ लाकर बनाया या अपने भीतर से बनाया। अगर अपने भीतर से बनाया तो बनाया नहीं बल्कि विस्तार हुआ फिर तो ईश्वर का विस्तार जगत है, न कि ईश्वर की कृति जगत है। कृति नहीं, विस्तार हो गया। अगर कृति माना जाए तो बाहर से कोई मसाला लाया होगा और लाकर बनाया होगा। कुम्हार घड़ा बनाता है, तो खदान से मिट्टी लाता है, फिर घड़ा बनाता है। तो ईश्वर भी कहां से मसाला लाया, जिससे कि जगत बनाया। क्यों बनाया? प्रयोजन क्या? प्रयोजन की भी बड़ी समस्या है। आज तक भी दार्शनिक चर्चा में, प्रयोजन के बारे में कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया जा सका कि ईश्वर ने जगत को क्यों बनाया? जो प्रयोजन बताए गए, वे ऐसे हैं कि जिन पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। प्रयोजन का भी जटिल प्रश्न है।

इन सारी समस्याओं को ध्यान में रखकर जैन दार्शनिकों ने एक सिद्धान्त स्वीकार किया कि जगत अनादि है, अनन्त है, अकृत है। इसको किसी ने बनाया नहीं। यह बना-बनाया है। जब अकृत है तो कब का प्रश्न ही नहीं उठता। कभी पैदा ही नहीं हुआ। न कर्ता का प्रश्न, न कब का प्रश्न, न कैसे का प्रश्न। सब स्वाभाविक हैं। जगत था, है और रहेगा। जगत का मतलब हमारी पृथ्वी नहीं है। यह पृथ्वी बन सकती है और यह पृथ्वी मिट सकती है। जगत का अर्थ यह सूर्य, चन्द्रमा, खगोल नहीं है, तारे और नीहारिका नहीं है। जगत का अर्थ है मूल तत्त्व, मूल पदार्थ। मूल तत्त्व हैं दो—चेतन और अचेतन। इनका निर्माण किसी ने नहीं किया। ये मूल हैं और इन्हीं का नाम है जगत।

जैन दार्शनिकों ने दो-तीन दृष्टिकोणों से जगत की व्याख्या की है। एक व्याख्या है द्वैतवादी व्याख्या। जीव और अजीव, चेतन और अचेतन, इसका नाम है जगत।

दूसरी व्याख्या है—पंचास्तिकाय का नाम है जगत।

तीसरी व्याख्या है—छह द्रव्य का नाम है जगत। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, पुद्गल, जीव—ये पांच अस्तिकाय और एक काल—ये छह द्रव्य हैं। इनका नाम है जगत। हम जो देख रहे हैं, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका विस्तार है। इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश— ये तीन हमें दिखाई नहीं देते। जगत का मतलब यह नहीं कि जो दिखाई देता है, वह जगत है। न दिखाई देने वाला भी जगत है। जीव और पुद्गल— ये दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं, मिले हुए हैं, इसलिए हमें दिखाई दे रहे हैं। जीव भी दिखाई देता हैं और पुद्गल भी दिखाई देता है। जीव का मूल रूप हमें दिखाई नहीं देता और पुद्गल का भी मूल रूप हमें नहीं दिखाई देता। पुद्गल का मूल रूप है परमाणु। परमाणु हमें दिखाई नहीं देता। क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह अतीन्द्रिय विषय है, सूक्ष्म है। आत्मा का शुद्ध रूप अमूर्त है। वह हमें दिखाई नहीं देता। हम क्या हैं? हमारा व्यक्तित्व क्या है। इस जगत में जो है, वह है पुद्गल के साथ समझौता किया हुआ हमारा व्यक्तित्व। हम न तो आत्मा हैं और न पुद्गल। दोनों नहीं हैं। हम एक समझौतावादी व्यक्तित्व हैं। यह है हमारी परिभाषा।

जैन दर्शन ईश्वरवादी है और नहीं भी है। जैन दर्शन परमात्मा को स्वीकार करता है। ऐसे शुद्ध आत्मा को स्वीकार करता है, जिसके साथ शरीर नहीं है, वह ईश्वर है। इस अर्थ में जैन दर्शन ईश्वरवादी है। किन्तु ईश्वर जगत का कर्ता है, इसे जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। इस अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है और अनीश्वरवादी भी है, दोनों है।

हम ईश्वर भी हैं, अनीश्वरवादी भी हैं। इसलिए कि जो हमारा शरीर दिखाई दे रहा है, उस शरीर में आत्मा है और वह आत्मा है, जिसमें परमात्मा बनने की क्षमता है, योग्यता है। इसलिए हम स्वयं ईश्वर हैं। हमारे भीतर वह बीज है, जिसे बोया जाए, उर्वर भूमि हो और उचित वर्षा हो, सूर्य का प्रकाश, वायु अच्छी तरह मिले तो वह वटवृक्ष बन सकता है। हमारे भीतर चेतना का वह बीज हैं, जो परमात्मा या ईश्वर बन सकता है। किन्तु आज हम ईश्वर नहीं हैं। आज हम परमात्मा नहीं हैं। शुद्ध आत्मा भी नहीं हैं। हमारा मिला-जुला साम्राज्य है, मिला-जुला व्यक्तित्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक आदमी बोलता है, वह क्यों बोलता है। आत्मा बोलती है या पुद्गल बोलता है? पुद्गल कभी बोलता नहीं, आत्मा भी कभी बोलती नहीं है। जब आत्मा और पुद्गल दोनों का योग होता है और एक प्राणशक्ति पैदा होती है, वह प्राण-शक्ति बोलती है। एक आदमी सोचता है। आत्मा तो सोचती नहीं। आत्मा के मन नहीं होता। न पुद्गल सोचता है। जब आत्मा और शरीर दोनों मिलते हैं, प्राणशक्ति पैदा होती है,वह प्राणशक्ति सोचती है।

आत्मा भी नहीं खाता और पुद्गल भी नहीं खाता। आदमी खाता है। आदमी श्वास लेता है। आत्मा श्वास नहीं लेती, पुद्गल भी श्वास नहीं लेता। जब दोनों का योग होता है तो प्राणशक्ति के द्वारा श्वास लिया जाता है, भोजन किया जाता है। हमारा व्यक्तित्व है जीव और पुद्गल दोनों का योग। हमारा व्यक्तित्व स्वतन्त्र नहीं है।

इस दुनिया में हम अकेले नहीं हैं। बहुत बड़ा सूत्र है कि हम अकेले नहीं हैं। अचेतन भी हैं चेतन भी हैं। हमारा प्रतिपक्षी तत्त्व अचेतन उसका भी अस्तित्व है और हमारा भी अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है, जैन दर्शन ने बताया कि चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। अस्तित्व की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों समान हैं। भेद कहां होता है? व्यक्तित्व कहां बनता है? जहां एक द्रव्य है चेतन और दूसरा द्रव्य है अचेतन। जिसमें चेतना है, ज्ञान है, जानने की क्षमता है, वह है चेतन, जीव। जिसमें चेतना नहीं है, जानने की योग्यता नहीं है, वह है अजीव।

वेदान्त दर्शन केवल चेतन तत्त्व को मानता है, अचेतन को वास्तविक नहीं मानता । चार्वाक दर्शन अचेतन को वास्तविक मानता है, किन्तु चेतन को वास्तविक नहीं मानता।

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह चेतन और अचेतन यानी जीव और पुद्गल दोनों के अस्तित्व को स्वतन्त्र मानता है, यथार्थ मानता है। जैन दर्शन यथार्थवादी दर्शन है। हम अकेले नहीं हैं। हमारा अस्तित्व है और उसके साथ-साथ अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए जैन दर्शन में अचेतन के प्रति व्यवहार करने का विवेक भी दिया गया। बड़ी महत्त्वपूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात है। जहां जीव-संयम है तो साथ-साथ में अजीव संयम भी है। एक आदमी जा रहा है। ईंट पड़ी है। ठोकर लगी। गुस्से में आया और ईंट को भी तोड़ दिया। यह हिंसा है। आप कहेंगे कि ईंट में जीवन तो नहीं है। हिंसा किसकी हुई? अरे, पुद्गल की भी हिंसा होती है। पुद्गल की भी अवज्ञा होती है, अपमान होता है। ईंट के प्रति गुस्सा निकाला तो हिंसा हो गई। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए। कपड़ा पहना हुआ है। गर्मी लगी। पसीना आया। कपड़े को ही फाड़ डाला। यह भी हिंसा है। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह जानना भी जरूरी है। क्योंकि अजीव का भी अस्तित्व है। आदमी जा रहा है। बालू का टीला आया। पैर से उसे रौंदा। यह भी हिंसा है। अजीव को भी इधर-उधर करने का अधिकार नहीं है। उसका अपना अस्तित्व है। हमारा अस्तित्व है तो उसका भी अपना अस्तित्व है। इस जगत को हमारे अस्तित्व के साथ जैन दर्शन ने एक ऐसी व्यवस्था दी कि तुम अकेले नहीं हो, इसलिए तुम्हारा व्यवहार और आचरण भी संयत होना चाहिए।

जहां गांव है, गांव में हजारों घर हैं, वहां एक सामाजिक शिष्टता होती है, नागरिक चेतना होती है। नागरिक चेतना का अर्थ होता है कि हम अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार करें? बहुत बार ऐसा होता है कि अपने घर से सफाई की, कचरा निकाला और दूसरे के घर के सामने डाल दिया। यह नागरिक शिष्टता का अतिक्रमण है। हम सब इस दुनिया में पड़ोसी हैं। इस जगत में चेतन अचेतन का पड़ोसी है और अचेतन चेतन का पड़ोसी। सारा एक कुटुम्ब, एक पड़ोस। सीमाएं कृत्रिम हैं। यह जोधपुर, यह उदयपुर, यह दिल्ली, यह कलकत्ता, यह राजस्थान, यह पंजाब, यह हरियाणा— ये सारी सीमाएं कृत्रिम हैं, व्यावहारिक हैं। वास्तविक नहीं हैं। न जाने कितनी बार मनुष्य ने इन सीमाओं को बदला है। कितनी बार बनाया है। जो किया हुआ होता है, उसका यह स्वभाव होता है कि कितनी बार बनता है, कितनी बार बिगड़ता है। कभी किया जाता है, कभी मिटाया जाता है। ये सारे बच्चों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के खेल हैं। बच्चा खेल खेलता है, कभी कुछ बना देता है, कभी कुछ बिगाड़ देता है।

आज का हिन्दुस्तान कभी बृहत् भारत रहा। आज छोटा-सा भारत बन गया। हजारों वर्षों में न जाने कौन देश कितना बना है और कितना बिगड़ा है। यह सारा परिवर्तन होता है, इसलिए कि स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक यह है कि एक जगत और उस जगत में रहने वाले मूल तत्त्व सब पड़ोसी हैं। एक दूसरे से मिले-जुले हैं और एक साथ रह रहे हैं। यह मेरी अंगुली है। इस अंगुली में आपको क्या दीखता है? आपको कोरी अंगुली दिखाई पड़ रही होगी। क्या यहां धर्मास्तिकाय नहीं है? अवश्य है। क्या अधर्मास्तिकाय इस अंगुली में नहीं है? वह भी है। यानी गतितत्त्व भी है और स्थितितत्त्व भी है। क्या आकाश अंगुली में नहीं है? वह भी है। क्या यहां काल नहीं है? अवश्य है। क्या पुद्गल नहीं है? पुद्गल भी है। क्या चेतना नहीं है? वह भी है। सब एक साथ रह रहे हैं? एक ही आकाश में सारे तत्त्व समाए हुए हैं और साथ-साथ रह रहे हैं। न कोई किसी को मार रहा है, न कोई किसी को काट रहा है और न कोई किसी का विरोध कर रहा है। सब एक साथ रह रहे हैं।

जैन दर्शन ने इस द्वैतवाद की स्थापना कर एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके आधार पर आज अहिंसा और मैत्री के सिद्धान्त का विकास हुआ। अहिंसा और मैत्री का सिद्धान्त कहां से आया? यह साहचर्य से आया। सब द्रव्य एक साथ रहते हैं। कहीं कोई विरोध की भावना नहीं, विरोध की बात नहीं। कोई टकराव नहीं। एक साथ में रहना और अपने-अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र बनाए रखना।

अहिंसा का यह अर्थ नहीं कि हम अपने अस्तित्व को समाप्त कर दें। अपना अस्तित्व स्वतन्त्र रहे, एक साथ रहे। स्वतन्त्रता और सहअस्तित्व दोनों का इतना सुन्दर प्रतिपादन हुआ है कि तुम स्वतन्त्र भी हो और सहअस्तित्व वाले भी हो। अकेला कोई रह नहीं सकता। अगर कोई आदमी यह चाहे कि मैं अकेला रहूं, कभी सम्भव नहीं है। दुनिया में अकेला कोई रह ही नहीं सकता। आकाश को छोड़ा नहीं जा सकता। गति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व और स्थितितत्त्व को छोड़ा नहीं जा सकता। परमाणुओं, काल और देश का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। फिर आदमी अकेला रहेगा कहां? यह अकेलेपन की कल्पना स्थूल कल्पना है, सापेक्ष कल्पना है। अकेला कोई भी हो नहीं सकता। हर आदमी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, सम्बन्ध किए हुए है।

यह जैन दर्शन का जगत, जिसमें सहअस्तित्व है, जिसमें भाईचारा है, जिसमें स्वतन्त्रता है, इसमें हम हैं। हम केवल पुद्गल के साथ ही नहीं हैं। जीवों के साथ भी हैं। जिस जगत में हम हैं, उसमें हमारे और भी बहुत से भाई हैं। सगे भाई हैं। एक पृथ्वी का जीव, मिट्टी से पैदा होने वाला जीव, एक पानी में पैदा होने वाला जीव, एक अग्नि में पैदा होने वाला जीव, एक वायु में पैदा होने वाला जीव, एक वनस्पति में पैदा होने वाला जीव और एक त्रस में पैदा होने वाला जीव। एक आदमी इन सारे जीवों के साथ जी रहा है। हम अकेले नहीं हैं। कितना बड़ा है हमारा परिवार। मूल जगत तो हमारा बहुत छोटा है। द्रव्य बहुत छोटा है किन्तु उसका परिवार बहुत लम्बा है। विस्तार को जब हम देखें तो पता ही नहीं चल सकता। बड़ा विचित्र-सा लगता है। जगत का मूल भाग बहुत छोटा और उत्तर भाग बहुत बड़ा होता है। ग्रन्थ छोटा और परिशिष्ट तथा भूमिका बड़ी। ऐसा होता है। वही बात हो गई, सूत्र का यही तो मतलब है, सूत्र बहुत छोटा और अर्थ बहुत बड़ा।

एक जैन आचार्य ने एक ग्रन्थ बनाया। उसका नाम है अष्टलक्षार्थी। केवल आठ अक्षर हैं। 'राजा नो ददते सौख्यम्' अनुष्टुप श्लोक का सिर्फ एक चरण। इन आठ अक्षरों के अर्थ हैं आठ लाख। अक्षर थोड़े और अर्थ इतने अधिक। एक-एक अक्षर का एक-एक लाख अर्थ। ठीक हमारे जगत की यही स्थिति है। मूल तत्त्व हैं पांच और उनका विस्तार इतना बड़ा जगत बन गया। कितना विस्तार हो गया?

उस जगत में हम लोग रह रहे हैं। हम अपने अस्तित्व को समझें कि हम किसी की सृष्टि नहीं हैं, किसी की रचना नहीं हैं। हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व है। अनादि हैं, अनन्त हैं। न तो कभी हमारा अस्तित्व बना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न कभी समाप्त होने वाला है। सारे जगत के सन्दर्भ में व्यक्ति को, अपने आपको पहचानना है। जब तक जगत को नहीं समझा जा सकता तब तक व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। सारा प्रयत्न सिर्फ अपने-आपको जानने के लिए हो रहा है। गाय रखना, उसका दूध निकालना, दूध को गर्म करना, ठण्डा करना, जामन देना, दही बनाना, बिलौना करना— सारा किसलिए? मक्खन के लिए सारा किया जाता है। सारे जगत को समझना, जगत की व्याख्या करना, उसके बारे में चिन्तन करना, यह सारा किसलिए? एक अपने आपको समझने के लिए कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, अस्तित्व कब से है, कब तक रहेगा? अपने बारे में पूरी जानकारी करने के लिए सारे जगत का बिलौना करना पड़ता है, तब कहीं जाकर मक्खन निकलता है। ऐसे ही मक्खन नहीं निकल जाता। बहुत झंझट करना पड़ता है। अपने आपको जानने के लिए यह हमारा सारा प्रयत्न है। हम स्वयं अपनी पहचान करें कि हम क्या हैं? हम चेतन हैं। हमारी चेतना स्वतन्त्र है। किसी की कृति नहीं हैं। हम ज्ञाता हैं। हमारे भीतर ज्ञान है, जानने की शक्ति है। हमारे भीतर विवेक है, भेद करने की शक्ति है। हम जिस शक्ति के साथ रह रहे हैं, उसका भी भेद करना जानते हैं। जो यह शरीर है, मैं नहीं हूं। मैं अलग हूं, यह शरीर अलग है। अपनी सारी पहचान इस जगत के सन्दर्भ में होती है। इसलिए हमें जगत को जानना भी जरूरी है, अपने-आपको भी जानना जरूरी है। जगत को जाने बिना अपने-आपको नहीं जाना जा सकता और अपने आपको जाने बिना जगत को भी नहीं जाना जा सकता। जगत को जानें, जगत के स्वभाव को जानें और जगत में हमारा स्थान क्या है, उसे भी जानें, हमारा स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि अचेतन तत्त्व में शक्ति तो है पर चेतना नहीं, ज्ञान की क्षमता नहीं। हमारा वह अस्तित्व है जिसमें चैतन्य भी है, शक्ति भी है और आनन्द भी है। ये तीनों बातें हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार प्रज्ञा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञ-प्रज्ञा और दूसरी प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। पहले जानो, फिर व्यवहार करो। यानी जो छोड़ने का है, उसे छोड़ दो। जो ग्रहण करने का है उसे ग्रहण करो। जिसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपेक्षा करनी है, उसकी उपेक्षा करो। यह व्यवहार करो। यह है हमारी प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। पहले ज्ञान करें। ज्ञ-प्रज्ञा का प्रयोग करें और फिर प्रत्याख्यान-प्रज्ञा का प्रयोग करें। इस उभयमुखी प्रवृत्ति के द्वारा हम उस बिन्दु पर पहुंच सकते हैं, जहां हम स्वयं परमात्मा और ईश्वर की अवस्था को उपलब्ध होंगे। ईश्वर हमसे भिन्न नहीं है। परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है। हमारे भीतर हमारा ईश्वर विद्यमान है। हमारे भीतर हमारा परमात्मा विद्यमान है। हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे हमारा प्रभु, हमारा ईश्वर, हमारा परमात्मा प्रकट हो जाए और हम स्वयं सत्-चित्-आनन्दमय अपने अस्तित्व को प्राप्त करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सृष्टिवाद

बहुत प्राचीन काल से कुछ जिज्ञासाएं मनुष्य के मस्तिष्क में उभरती रही है, प्रश्न पूछे जाते रहे हैं और समाधान खोजा जाता रहा है। प्रश्न है—यह विश्व किसने बनाया? यह विश्व किससे बना? कब बना? कैसे बना? मूल तत्व क्या है? वह तत्व क्या है, जो निरन्तर परिवर्तन में अपरिवर्तित रहता है? यह पृथ्वी कब से है? यह आकाश कब से है? यह सौरमण्डल कब से है? यह प्राणीजगत कब से है? यह मनुष्य कब से है? ये प्रश्न मानव में उभरते रहते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा, अपनी अर्न्तदृष्टि के द्वारा इन प्रश्नों का समाधान खोजता रहा है। जैन-दर्शन ने भी इनका समाधान खोजा। एक साथ खोजा या धीमें-धीमें खोजा, यह विचार के इतिहास का विषय है किन्तु जैन दर्शन में इनका समाधान खोजा गया है।

पहला प्रश्न है—यह विश्व किसने बनाया?

जैन दर्शन ने इसका समाधान दिया— विश्व को बनाने वाला कोई नहीं है।

दूसरा प्रश्न है— यह विश्व किससे बना?

जीव और अजीव—ये दो तत्त्व हैं। इन दो तत्वों से यह विश्व बना है।

तीसरा प्रश्न है—यह विश्व कब बना?

इसका कोई अता-पता नहीं है। इसका आदि बिन्दु निकाला नहीं जा सकता। इसलिए नहीं निकाला जा सकता कि इस विश्व में जितने तत्त्व पहले थे, उतने ही हैं, उतने ही रहेंगे। जीव और अजीव में से एक भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व, एक भी अणु न नया जन्म लेता है और न पुराना नष्ट होता है। जितना था, उतना है और उतना ही रहेगा। अतीत में जितने पदार्थ थे, वर्तमान में भी वे हैं और अनन्त भविष्य में भी वे पदार्थ बराबर बने रहेंगे। वे न कम होंगे न अधिक। इसलिए विश्व कब बना? इस प्रश्न का कोई उत्तर दर्शन जगत के पास नहीं है और इसका आदि बिन्दु खोजा भी नहीं जा सकता।

चौथा प्रश्न है—विश्व कैसे बना?

जीव और अजीव का संयोग होता रहता है और उस संयोग ने इस सृष्टि का निर्माण किया है। प्रश्न होता है—दूध कैसे बना? गाय ने घास खाई और दूध बन गया। जितना विकास है, यह सारा यौगिक है। उसमें जीव और अजीव—इन दो तत्वों का योग है। इन दो का योग मिलता रहता है और वह गुणित होता चला जाता है। दो से चार, चार से आठ और आठ से सौलह—इस प्रकार वह गुणित होता चला जाता है।

पांचवां प्रश्न है—मूल तत्त्व क्या है?

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं।

जगत का जितना विस्तार है, वह जीव और अजीव के संयोग से हुआ है। उस विस्तार की शक्ति का नाम है व्यंजन पर्याय। पर्याय दो प्रकार का होता है—स्वभाव पर्याय और व्यंजन पर्याय। प्रत्येक पदार्थ में जो अपना-अपना परिणमन होता रहता है, वह है स्वभाव पर्याय और जो दो के योग से बनता है और प्रकट होता है, वह है व्यंजन पर्याय। दो का योग मिला, हाईड्रोजन-ऑक्सीजन मिला, पानी बन गया। पानी कोई मूल तत्त्व नहीं है। पानी यौगिक है। जितने द्रव्य यौगिक हैं, वे संयोग से मिलते हैं और बनते चले जाते हैं।

हमारे जगत का जो विस्तार है, वह यौगिक विस्तार है। मूल तत्व बहुत सिमटे हुए हैं। किन्तु इनका विस्तार इतना हो गया है कि हमें नाना द्रव्य दिखाई दे रहे हैं। प्रश्न होता है— मकान क्या है? वह कोई मूल द्रव्य नहीं है। ईंट, पत्थर, सीमेंट, लोहा— इनका योग मिला और मकान खड़ा हो गया। यह मिट्टी क्या है? यह पृथ्वी क्या है? कुछ प्राणी और कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल मिले, मिट्टी का निर्माण हो गया। यह जल क्या है? कुछ प्राणी और कुछ परमाणु स्कन्ध मिले, जल का निर्माण हो गया। यह अग्नि क्या है? कुछ प्राणी और कुछ परमाणु स्कन्ध मिले, अग्नि का निर्माण हो गया। हवा क्या है? कुछ प्राणी और कुछ पुद्गलों का योग है। यह वनस्पति-जगत क्या है? इसका उत्तर यही है। कुछ जीव और कुछ पुद्गल मिले, इतना बड़ा वनस्पति जगत बन गया। यह त्रस जगत—कीड़े-मकोड़ों से लेकर मनुष्य तक क्या है? यह भी यौगिक ही है। जीव मिला और कुछ पुद्गल मिला, एक कीड़ा बन गया, एक पक्षी बन गया। एक पशु बन गया और एक आदमी बन गया। मूल द्रव्य कोई नहीं है, सब यौगिक है। कहना चाहिए—जितना दिखाई दे रहा है और जो दृश्य जगत है, वह सारा का सारा जीव और पुद्गल का यौगिक स्वरूप है। न कोई शुद्ध जीव है और न कोई शुद्ध पुद्गल। यदि पुद्गल है तो वह जीव द्वारा छोड़ा हुआ पुद्गल है। सूक्ष्म पुद्गल हमें दिखाई नहीं देता।

कुछ दार्शनिकों ने माना—विश्व की रचना का मूल तत्त्व है पंचभूत। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश— इन पांच महाभूतों से सृष्टि का निर्माण हुआ है। जैन दर्शन ने पांच भूतों को स्वीकृति नहीं दी। उसके अनुसार जीव और अजीव—इन दो के योग से सृष्टि का निर्माण हुआ है। इस योग में पृथ्वी भी है, पानी भी है, अग्नि भी है और वायु भी है किन्तु आकाश अलग पड़ जाता है। आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह इन चारों के साथ में नहीं आता, वह यौगिक नहीं है।

सारा संसार पुद्गलों और जीवों के योग से बनता है। दोनों का योग मिला और व्यंजन पर्याय घटित हो गया। व्यंजन पर्याय यानि प्रगट होने वाला पर्याय। गाय ने घास खाई और दूध बन गया, यह व्यंजन पर्याय है। प्रश्न हुआ—दूध कहां से आया? क्या दूध का अस्तित्व गाय में है? क्या दूध का अस्तित्व घास में है? अगर गाय में है तो घास कभी दूध नहीं देगा। उसका अस्तित्व न गाय में है और न घास में है किन्तु दोनों के योग में है। गाय और घास—दोनों का योग मिला और एक नया पर्याय बन गया। दूध हमारे सामने प्रस्तुत हो गया। ऐसे नाना प्रकार के योग बनते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकी गणना नहीं की जा सकती। असंख्य योग बनते हैं और असंख्य पदार्थ बनते चले जाते हैं।

छठा प्रश्न है—क्या यह यौगिक जगत बदलता ही रहता है?

कहा गया—ऐसा नहीं है। निरन्तर परिवर्तन के बीच भी एक तत्त्व ऐसा है, जो अपरिवर्तित रहता है। जीव और अजीव-दोनों में परिवर्तन का चक्र चल रहा है किन्तु दोनों के बदलाव में एक न बदलने वाला तत्त्व भी बैठा है। जैन दर्शन में तीन तत्वों का प्रतिपादन किया गया—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और ध्रुव भी रहता है। एक ध्रुव तत्त्व ऐसा है, जो उत्पाद और व्यय के बीच में बैठा है। वैदिक दर्शनों ने सृष्टि का उत्पाद और लय माना। सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उसका लय होता है मूल कारण में। मूल कारण है ईश्वर या ब्रह्म। वह स्थायी रहता है। अगर हम कल्पना को निकट लायें तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा ईश्वर, लय या उत्पत्ति को एक दृष्टि से देख सकते हैं।

सातवां प्रश्न है—यह पृथ्वी कब से बनी? जब से जीव और अजीव का अस्तित्व है तब से पृथ्वी का अस्तित्व है। हमारा सौरमण्डल कितना बड़ा है? हमारी नीहारिकाएं कितनी बड़ी हैं? जो सौरमण्डल दिखाई दे रहा है, जो नीहारिकाएं दिखाई दे रही हैं ऐसी असंख्य-असंख्य नीहारिकाएं और असंख्य सौरमण्डल इस जगत में विद्यमान हैं। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकृति दे रहा है। एक ग्रह से दूसरे ग्रह के बीच की दूरी दो करोड़ अरब या खरब प्रकाश वर्ष है। एक प्रकाश वर्ष कितना बड़ा होता है। इतना विराट है हमारा यह ब्रह्माण्ड, जगत या विश्व। इसमें निरन्तर परिर्वतन होता रहता है, पृथ्वी भी बदलती रहती है। आकाश अटल रहता है, वह कभी बनता या बिगड़ता नहीं है। वह अपने स्वभाव में बदलता है, किन्तु बाहर में नहीं बदलता।

प्राणी जगत भी बदलता रहता है। एक समय इस पृथ्वी पर जिन प्राणियों का साम्राज्य था, वह समाप्त हो गया। दो करोड़ वर्ष, चार करोड़ वर्ष पहले जिन प्राणियों का साम्राज्य था, आज उन प्राणियों का अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया। दूसरे प्राणी आ गए। प्राणियों की जातियां और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजातियां बदलती रहती हैं। प्राणियों का अस्तित्व भी बदलता रहता है। आकार भी एक समान नहीं रहता। आज आदमी का जो आकार है, क्या पहले भी वही आकार था? कहना कठिन है। वह बहुत बदला है, उसमें इतना परिवर्तन आया है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आगम साहित्य में ऐसे-ऐसे प्राणियों-मनुष्यों का उल्लेख है, जिनका मुंह घोड़े जैसा होता था और जिनके पूँछ भी होती थी। आज यह माना जाता है—बन्दर के पूँछ होती है पर छप्पन अन्तर्द्वीप के मनुष्यों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह बहुत विचित्र है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य सदा इसी रूप में था। उसके आकार-प्रकार बदले हैं, रूप बदले हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी बदलते रहे हैं। इस स्थिति में एक जैसा होने की बात कठिन है। प्राणी जगत भी बदला है और मनुष्य भी बदला है।

जब से इस पृथ्वी का अस्तित्व है, जीव और पुद्गल का संयोग है, तब से प्राणी जगत का अस्तित्व है, मनुष्य का अस्तित्व है। उसमें परिवर्तन का चक्र चलता रहता है।

विज्ञान के अनुसार पदार्थ का निर्माण मौलिक्यूल से होता है और मौलिक्यूल का निर्माण परमाणुओं के संयोग से होता है। जैन दर्शन में वस्तु की उत्पत्ति के दो प्रकार बतलाए गए हैं—संघात और भेद। परमाणुओं का संघात होने से भी वस्तु उत्पन्न होती है और स्कंध टूटने से भी वस्तु उत्पन्न होती है।

परिणाम दो प्रकार के हैं—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक। अनादि परिणामिक में किसी नई वस्तु का निर्माण नहीं होता और जो हैं उनका विलोप नहीं होता। जो हैं, वे रहेंगे। जितने हैं, उतने ही रहेंगे। सादि पारिणामिक में नए रूपों का निर्माण होता है और पुराने रूपों का विध्वंस। अनादि पारिणामिक को विश्व और लोक तथा सादि पारिणामिक को सृष्टि कहा जा सकता है।

सृष्टि और सादि पारिणामिक का मूल हेतु है पुद्गल-वर्गणा। मूल वर्गणाएं आठ हैं:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. औदारिक वर्गणा
२. वैक्रिय वर्गणा
३. आहारक वर्गणा
४. तैजस वर्गणा
५. कार्मण वर्गणा
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७. भाषा वर्गणा
८. मनोवर्गणा।

धवला में वर्गणा के तेईस प्रकार बतलाए गए हैं। विशेषावष्यक भाष्य में वर्गणाओं के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रकार बतलाए गए हैं। एक गुण कृष्ण वर्ण वाले परमाणु अथवा स्कंध की एक वर्गणा होती है। दो गुण कृष्ण वर्ण वाले परमाणु अथवा स्कंध की एक वर्गणा होती है। इस प्रकार तीन, चार, संख्येय, असंख्येय यावत अनंत परमाणु अथवा स्कंध की एक-एक वर्गणा होती है। इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श—इन सबके अनंत-अनंत विकल्प बन जाते हैं।

औदारिक शरीर की वर्गणा में एक परमाणु की कमी अथवा एक परमाणु अधिक हो तो औदारिक शरीर के निर्माण में उसका उपयोग नहीं हो सकता।

इन पुद्गल वर्गणाओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन एक इन्द्रिय वाले जीवों के शरीर का निर्माण होता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर का निर्माण होता है। इन वर्गणाओं में कुछ स्थूल होती हैं, और कुछ सूक्ष्म। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्कंध के छह विकल्प बतलाए हैं—

१. अति-स्थूल
२. स्थूल
३. स्थूल-सूक्ष्म
४. सूक्ष्म-स्थल
५. सूक्ष्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अति-सूक्ष्म

१. अति-स्थूल का उदाहरण है—पृथ्वी। उसका छेदन भेदन किया जा सकता है, उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

२. स्थूल का उदाहरण है—जल। उसका छेदन भेदन नहीं किया जा सकता। किन्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

३. स्थूल-सूक्ष्म का उदाहरण है— छाया। उसका न छेदन-भेदन किया जा सकता है और न उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है किन्तु उसे आंखों से देखा जा सकता है।

४. सूक्ष्म स्थूल का उदाहरण है चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के ज्ञेय विषय।

५. सूक्ष्म का उदाहरण है कर्म वर्गणा के स्कंध।

६. अति सूक्ष्म का उदाहरण है परमाणु।

विज्ञान के अनुसार पदार्थ कणात्मक और ऊर्जा तरंगात्मक है। कभी कण का ऊर्जा में और ऊर्जा का कण में परिवर्तन हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कण (अथवा स्कंध) पुद्गल का एक पर्याय भी है इसलिए उनमें परिवर्तन संभव है। प्रत्येक द्रव्य में एक निश्चित अवधि के बाद परिवर्तन अवश्य होता है। कोई निमित्त मिलता है तो प्रायोगिक परिवर्तन होता है। कोई निमित्त न मिले तो वह परिवर्तन स्वाभाविक होता है। यह परिवर्तन का नियम सार्वभौम है। इसलिए नई-नई वस्तुओं की उत्पत्ति होती रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियति और पुरुषार्थ

मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र—यह प्रश्न अनादिकाल से पूछा जाता रहा है। यदि वह नियति के हाथ की कठपुतली है तो वह परतन्त्र है और यदि वह कुछ करने में सक्षम है तो वह स्वतन्त्र है। जैन-दर्शन ने इस प्रश्न पर सापेक्षदृष्टि से विचार किया। सापेक्षदृष्टि का निर्णय है कि नियति का अपना स्थान है और पुरुषार्थ का अपना स्थान है। काल का अपना स्थान है और स्वभाव का अपना स्थान है। कर्म का स्थान भी स्वतन्त्र है। सबका अपना-अपना स्थान और अपनी-अपनी सीमाएं। कोई भी तत्त्व असीम नहीं है। ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो सब कुछ हो। इस दुनिया में सब कुछ कोई नहीं है। सब सीमित है।

नियति का अर्थ है—सार्वभौम नियम, युनिवर्सल लॉ, ऐसी सचाई जो सर्वत्र लागू होती है। नियति अपरिवर्तनीय और अनतिक्रमणीय नियम है। कोई इसे टाल नहीं सकता। मरना नियति है। जन्मना नियति है। इसे कोई नहीं टाल सकता। ऐसे करोड़ों नियम हैं जो सर्वत्र लागू होते हैं। उत्पन्न होना और नष्ट होना नियति है। बदलना नियति है। इन्हें टाला नहीं जा सकता। इस अर्थ में प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है, नियति के अधीन है।

किन्तु सब कुछ नियति नहीं है। सारे नियम नियति नहीं हैं। नियति की भी अपनी सीमा है। इस सीमा के कारण पुरुषार्थ के लिए अवकाश बच जाता है।

पुरुषार्थ करने में हम स्वतन्त्र है। नियति पुरुषार्थ में कोई बाधा नहीं डालती और पुरुषार्थ नियति में कोई बाधा नहीं डालता। दोनों की अपनी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी मर्यादा है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, किन्तु बाधक नहीं हैं।

पुरुषार्थ के द्वारा हम बदलते हैं। परिवर्तन में पुरुषार्थ का बड़ा महत्त्व है। पुरुषार्थ से हम अपने भाग्य को भी बदलते हैं और अपनी स्थिति को भी बदलते हैं। जैन दर्शन में पुरुषार्थ को बहुत मूल्य प्राप्त है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म या भाग्य और पुरुषार्थ—ये पांच समवाय कहलाते हैं। पांचों का अपना-अपना प्रतिशत बंटा हुआ है। पांचों में पुरुषार्थ का प्रतिशत सबसे अधिक है।

जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। यह न ईश्वर के हाथ का खिलौना है और न नियति के हाथ की कठपुतली है। अनेक लोग कहते हैं—जैसा भाग्य में लिखा है, वैसा ही होगा। जैन-दर्शन इसको मान्यता नहीं देता। मनुष्य जब ईश्वर के हाथ का खिलौना नहीं है तो फिर कर्म के हाथ का खिलौना कैसे बनेगा? कर्म की भी एक सीमा है। कर्म को असीम महत्त्व देना और यह मानकर बैठ जाना कि सब कुछ कर्म से होता है, यह भी गलत है। पुरुषार्थ ही कर्म का घटक है। पुरुषार्थ कर्म को बनाता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ बड़ा है, न कि कर्म। यदि बड़ा न कहें तो यह तो कहना ही होगा कि दोनों समतुल्य हैं। कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि कोई भी व्यक्ति पुरुषार्थ क्यों करेगा? किस दिशा में करेगा? कहां करेगा? पुरुषार्थ बिना प्रयोजन के होता नहीं और जैन-दर्शन ने ईश्वर को अस्वीकार कर दिया तो फिर उसके सामने आदर्श क्या रहा, जिसके लिए वह पुरुषार्थ करे? कोई-न-कोई आदर्श चाहिए। आदर्श के बिना आदमी किस दिशा में जाएगा? कैसे पुरुषार्थ करेगा? प्रेरणा कहां से मिलेगी? यह स्वाभाविक प्रश्न है।

जैन-दर्शन ने जगत कर्ता के रूप में ईश्वर को अस्वीकार किया है, किन्तु आदर्श के रूप में अस्वीकार नहीं किया है। जैन-दर्शन में ईश्वर एक नहीं, अनंत हैं। हमारे सामने आदर्श है 'अर्हत्'। वह जीवित ईश्वर है, पुरुष ईश्वर है, मुक्त ईश्वर नहीं है। इस आदर्श की वन्दना और भक्ति की जाती है। जैन-दर्शन का मंत्र है—'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'। इसमें पहला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद— 'णमो अरहंताणं' हमारा आदर्श है। अशरीरी—मुक्त ईश्वर सशरीरी के लिए आदर्श नहीं हो सकता। सिद्ध, मुक्त, परमात्मा और ईश्वर हमारे लिए आदर्श नहीं हो सकते। हमारे लिए आदर्श है 'अर्हत्' जो शरीरधारी है। शरीरधारी होने पर भी वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द—इस अनन्त चतुष्टयी से अन्वित हैं। यह है हमारा आदर्श। इसमें पुरुषार्थ के लिए बहुत अवकाश है। अल्पज्ञान वाले आदमी को अनन्त ज्ञान तक पहुंचना है, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति तथा अनन्त आनन्द तक पहुंचना है। कितना बड़ा आदर्श! चलते चलो, चलते चलो। कहीं अवरोध नहीं है।

अर्हत् है आदर्श। इस आदर्श तक पहुंचकर आदमी स्वयं परमात्मा बन जाता है, सिद्ध बन जाता है। यह है अन्तिम परिणति, अन्तिम निष्पत्ति।

प्रश्न होता है, कैसे बने? बनने का मार्ग है आचार्य। आचार्य आचार का प्रतीक है । आचार के द्वारा हम आदर्श तक पहुंच सकते हैं। जैन-दर्शन केवल आचार को एकांगी मान्यता नहीं देता। वह आचार और ज्ञान—दोनों के समन्वय को मानता है। उपाध्याय ज्ञान का प्रतीक है। तात्पर्यार्थ है कि आचार और ज्ञान—ये दो मार्ग हैं। साधु साधना का प्रतीक है। एक साधक व्यक्ति साधना के द्वारा आचार और ज्ञान की आराधना कर अर्हत् बनता है और अर्हत् बनकर शरीरमुक्त बन जाता है। यह महामंत्र आदर्श भी है और आदर्श तक पहुंचने की पद्धति भी है। जैन-दर्शन में आदर्शवाद भी है और भक्तिवाद भी। जहां भक्ति नहीं होती, समर्पण नहीं होता, तादात्म्य नहीं होता, वह धर्म सूखा धर्म होता है। उसमें चिकनापन नहीं होता। जैन-धर्म में भक्ति के लिए पूरा अवकाश है, उपासना के लिए पूरा अवकाश है, इसलिए वह सूखा नहीं है। उपासना यानी अर्हत् की उपासना।

हमारे सामने आदर्श है और भक्ति है। इसीलिए भक्ति करने वाला बड़ी तन्मयता के साथ उच्चारण करता है—

* अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।
* अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

भक्ति का सबसे बड़ा सूत्र है—शरणागति, शरण में चले जाना। जैन-दर्शन में शरणागति का सिद्धान्त मान्य है। अर्हत् की शरण में जाना, सिद्ध की शरण में जाना, साधु की शरण में जाना, धर्म की शरण में जाना— यह शरणागति की मान्यता है। यह भक्ति का मार्ग है। जैन-दर्शन आदर्शवादी भी है और भक्तिवादी भी है। यह धर्म आस्था को बल देने वाला धर्म है।

जैन-दर्शन में आस्था के लिए पूरा अवकाश है और अपने आपको परमशक्ति में विलीन करने का भी अवकाश है। स्वतन्त्रता के लिए भी पूरा अवकाश है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। स्वतन्त्रता भी और समर्पण भी। समर्पण का अर्थ विलीन हो जाना नहीं है, किन्तु एकात्म या तद्रूप हो जाना है। तात्पर्यार्थ में स्वयं अर्हत् बन जाना है। यह नर से नारायण बनना है, नारायण में विलीन हो जाना नहीं है। यह अद्भुत सिद्धान्त है। स्वयं को ईश्वर या परमात्मा बनना है, पर किसी दूसरे ईश्वर या परमात्मा में विलीन होना नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्माएं अनन्त हैं। सबका स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक है जो किसी को अपने में विलीन कर सके। ऐसा कोई ईश्वर नहीं है, जिसमें सब जाकर विलीन हो जाएं। ऐसी कोई आत्मा नहीं है, जिसमें ईश्वर होने की क्षमता न हो। प्रत्येक आत्मा में ईश्वर होने की क्षमता भी है और अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की क्षमता भी।

यह ईश्वरवाद और स्वतन्त्रतावाद—दोनों साथ-साथ चलते हैं। आदर्श की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का चुनाव किया गया, उसमें पुरुषार्थ की प्रधानता है। पर उसकी भी सीमा है। प्रत्येक व्यक्ति के पुरुषार्थ में तारतम्य रहता है। सभी समान पुरुषार्थ नहीं कर पाते। पुरुषार्थ के आधार पर जैन धर्म में दो वर्ग बन गए—साधु और श्रावक। धर्म दोनों का एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। धर्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। केवल मात्रा का भेद है, शक्ति का भेद है। साधु धर्म की आराधना समग्रता से करता है और श्रावक धर्म की आराधना खण्डशः करता है। आचार्य भिक्षु ने उदाहरण देते हुए कहा—एक के हाथ में 'चौगुनी' का पूरा लड्डू है और दूसरे के हाथ में उसी लड्डू का एक भाग है। लड्डू के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। एक है पूरा और एक है अधूरा। इसी प्रकार साधना के आधार पर, पुरुषार्थ के आधार पर दो श्रेणियां बन गईं—साधु और श्रावक। दोनों में धर्म की आराधना करने की शक्ति की तरतमता है, पर दोनों का धर्म एक है।

शक्ति की अनेक बाधाएं हैं। उनमें संज्ञाएं मुख्य हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये संज्ञाएं शक्ति को बाधित करती हैं। किसी व्यक्ति में इन संज्ञाओं पर विजय पाने की शक्ति जाग जाती है और वह अपनी शक्ति को धर्म की आराधना में समग्रता से प्रयुक्त कर देता है। जिस व्यक्ति में यह क्षमता नहीं जागती वह धर्म की आराधना में अपनी शक्ति को पूर्ण रूपेण नहीं लगा सकता। ये सज्ञाएं आदमी को बहुत सताती हैं और उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न कर डालती हैं।

जैन-दर्शन ने इन संज्ञाओं के परिष्कार का मार्ग सुझाया है। समाज में रहने वाला व्यक्ति लोभ और काम से सर्वथा मुक्त हो जाए, यह संभव नहीं है। पर इनका परिष्कार किया जा सकता है। जो इनको सर्वथा छोड़ता है, वह मुनि बन जाता है और जो इनको सर्वथा नहीं छोड़ता, वह गृहस्थ में रह जाता है। उसके लिए दो मार्ग निर्दिष्ट हैं—व्यावहारिक और आन्तरिक। आन्तरिक मार्ग है—निर्लेपता की साधना।

भरत चक्रवर्ती ने निर्लेपता की साधना की। जैन साधना पद्धति का मुख्य सूत्र है निर्लेपता। जैसे धाय मां बच्चे का पालन-पोषण करती है, प्यार-दुलार देती है पर अन्तःकरण से समझती है कि बच्चा मेरा नहीं है। उसे यह भान सदा बना रहता है। श्रावक को भी साधना का यह सूत्र दिया गया है कि वह कुटुम्ब का प्रतिपालन करता है, व्यापार करता है, खेती करता है और कोई व्यवसाय करता है, पर अन्तर में यह समझता है कि मैं अकेला हूं। भगवान महावीर ने अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा आदि अनुप्रेक्षाओं का सूत्र दिया, जिससे कि मूर्च्छा को कम किया जा सके, आसक्ति को कम किया जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सके। महाराजा भरत चक्रवर्ती थे। विशाल साम्राज्य के अधिपति। राज्य करते हुए भी इतने निर्लेप कि राज्य का वैभव उनमें मूर्च्छा उत्पन्न नहीं कर सका। वे आदर्श गृह में बैठे-बैठे अनुप्रेक्षा कर रहे थे। अध्यवसाय की विशुद्धि हुई और वे केवलज्ञानी हो गए। वे मुनि बनकर नहीं, केवली बनकर घर से निकले। न केवल भरत चक्रवर्ती, किन्तु उनके बाद आने वाले आठ उत्तराधिकारी इसी प्रकार केवली बनकर महल से निकल पड़े। जब नौवां उत्तराधिकारी आया तो उसने सोचा, यह तो बड़ी समस्या है कि राजा इस महल में बैठा-बैठा केवली हो जाता है। उसने महल को तुड़वा दिया। बात समाप्त हो गयी।

भरत चक्रवर्ती का यह एक सुन्दर निदर्शन है कि व्यक्ति गृहस्थी में रहते हुए भी इतना निर्लिप्त हो सकता है कि मुनि बने बिना ही केवली बन जाता है। यह जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है कि मुक्ति का अनुबंध, कैवल्य का अनुबंध मुनिवेश या गृहस्थवेश से नहीं, निर्लेपता से है। भगवान महावीर ने यहां तक कह दिया कि कुछेक गृहस्थ संयम की साधना में मुनियों से भी प्रधान होते हैं— **'गारत्था संजमोत्तरा'**।

भगवान महावीर ने मुनि-धर्म के साथ-साथ गृहस्थ धर्म का भी निर्देश किया। गृहस्थ धर्म के मूल सूत्र हैं—इच्छा का परिष्कार, परिग्रह का परिष्कार और लोभ का परिष्कार। इसका व्यावहारिक रूप यह है कि अर्जन में साधन-शुद्धि होनी चाहिए। यह पहला परिष्कार है। दूसरा परिष्कार है कि व्यक्तिगत लोभ की मर्यादा होनी चाहिए कि इतने से अधिक का उपयोग नहीं करूंगा, इतने से अधिक पदार्थों को काम में नहीं लूंगा। ये दोनों बातें जब होती हैं, तब अर्जन के साधन शुद्ध हो सकते हैं और व्यक्तिगत भोग का संयम होता है। फिर धनार्जन की समस्या सुलझ जाती है। अपरिग्रह सूत्र की साधना के लिए आन्तरिक सूत्र है— अमूर्च्छा और व्यावहारिक सूत्र है—साधनशुद्धि का विवेक, भोग का संयम।

इसी प्रकार जैन दर्शन ने अहिंसा के लिए भी महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए। अहिंसा की साधना का आन्तरिक सूत्र है—भावशुद्धि, मैत्री का विकास और व्यावहारिक सूत्र है— अनावश्यक हिंसा का वर्जन। हिंसा के तीन प्रकार हैं—

१. आरंभजा हिंसा—कृषि, व्यापार आदि में होने वाली हिंसा।

२. विरोधजा हिंसा—सुरक्षा या बचाव के लिए होने वाली हिंसा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. संकल्पजा हिंसा—इन्द्रिय-लोलुपता, उच्छृंखलता या प्रमादवश होने वाली हिंसा।

जैन दर्शन ने व्यावहारिक मार्ग सुझाया कि कोई भी गृहस्थ व्यवसाय या खेती से बच नहीं सकता। उसके बिना जी नहीं सकता। उसे अपनी सुरक्षा भी करनी होती है। इसलिए सबसे पहले वह संकल्पजा हिंसा को छोड़े। यह है परिष्कार का मार्ग।

जब वृत्तियों का परिष्कार, संज्ञाओं का परिष्कार होता है, तब संयम की शक्ति का विकास होता है। इन्द्रियों और मन का संयम शक्ति का स्रोत है। संयम की शक्ति के बिना धर्म की सही आराधना नहीं हो सकती। उपासना और संयम—दोनों का योग है। यदि संयम की साधना नहीं है तो न अर्हत् की शरण प्राप्त होगी और न अर्हत् की वन्दना होगी। अर्हत् की शरण में जाना, अर्हत् को वन्दना करना—यह संयम को उपलब्ध होना है। जिस मार्ग पर चलकर अर्हत् अर्हत् बने हैं, वह मार्ग है संयम का। गृहस्थ के लिए संयम का मार्ग है और मुनि के लिए भी संयम का मार्ग है। संयम है समता और समता है संयम। जहां संयम नहीं है, वहां समता नहीं हो सकती और जहां समता नहीं है, वहां संयम नहीं हो सकता।

आज इस पदार्थवादी परम्परा ने भोगवाद को बढ़ाया है और इससे असंयम बढ़ा है। लोभ और कामवासना जितनी प्रबल होगी, तनाव उतना ही अधिक होगा। असंयम तनाव का जनक है। संयम के बिना तनाव को मिटाया नहीं जा सकता। भीतर आग भभक रही है असंयम की। तो फिर तनाव क्यों नहीं उतरेगा? दूध में उफान क्यों नहीं आएगा? लोभ और कामवासना की आंच पर रखा हुआ मन बेचारा गर्म नहीं होगा तो क्या होगा? रक्तचाप, हार्टट्रबल, कैंसर, अल्सर आदि बीमारियों का जनक है असंयम।

जैन दर्शन संयम की भित्ति पर खड़ा है। जैन धर्म की व्याख्या आध्यात्मिक धर्म की व्याख्या है।

भारतीय साहित्य में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। गृहस्थ इन चारों की साधना करता है। जीवन चलाने के लिए अर्थ और काम—ये दो पुरुषार्थ जरूरी हैं। जीवन की पवित्रता के लिए धर्म और मोक्ष—ये दो पुरुषार्थ जरूरी हैं। आवश्यकता यह है कि काम और अर्थ—ये दो पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष को बाधित न करें, किन्तु इनसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावित रहें। जब धर्म और मोक्ष प्रधान होते हैं, तब अर्थ और काम का भी परिष्कार हो जाता है। लोभ और काम का परिष्कार—यह पुरुषार्थ चतुष्टयी के परिष्कार का मार्ग है। जब इन चारों पुरुषार्थों का संतुलित सेवन होता है, तब जीवन-पथ सुगम बन जाता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि आदमी पुरुषार्थ करे, धर्म के क्षेत्र में मोक्ष की प्राप्ति के लिए और वह अर्थ और काम के क्षेत्र में पुरुषार्थ करे तो धर्म से प्रभावित होकर, जिससे कि सामाजिक जीवन में समस्याएं न आएं और आने वाली समस्याओं का समाधान किया जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्ययवाद और वस्तुवाद

हमारे सामने दो जगत हैं—परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व। प्रत्ययवादी (या आदर्शवादी) दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक नहीं मानते। उनके मतानुसार चेतना से बाहर कुछ नहीं है। भारतीय दार्शनिकों में इस सिद्धांत का प्रतिपादन वेदान्त ने किया। पश्चिमी दार्शनिकों में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कान्ट, फिक्ट, शेलिंग, हेगेल ग्रीन, जेम्स वार्ड आदि दार्शनिक हैं।

वस्तुवादी दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं। उनके मतानुसार अपर अस्तित्व चेतना-निरपेक्ष है, स्वतन्त्र है। भारतीय दार्शनिकों में सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पश्चिमी दार्शनिकों में रीड, हैमिल्टन, बर्ट्रेण्ड रसल आदि दार्शनिक इसके प्रतिपादक हैं।

जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनों सत्यांशों की सापेक्ष व्याख्या की है। उस व्याख्या का पहला सूत्र प्रत्ययवादी धारणा में संशोधन प्रस्तुत करता है। चेतना से बाहर कुछ नहीं है, इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक संगत हो सकता है कि अस्तित्व से बाहर कुछ नहीं है। अस्तित्व को एक इकाई बनाया जा सकता है, किन्तु चेतना को एक इकाई नहीं बनाया जा सकता। अस्तित्व में चेतन और अचेतन—दोनों का समाहार हो सकता है, किन्तु चेतन में अचेतन का समाहार नहीं हो सकता। चेतन और अचेतन— यह दो की स्वीकृति प्रत्ययवाद को वस्तुवाद में बदल देती है। अचेतन को चेतना का प्रतिबिम्ब मानने में अनेक जटिलताएं उत्पन्न होती हैं। अस्तित्व की एकता में कोई जटिलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। चेतना विभाजक गुण है। वह चेतन को अचेतन से पृथक् करती है। 'सामान्य' संयोजक गुण है। वह सब द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहता है। इसलिए वह एकता का अन्तिम बिन्दु है। उस पर पूर्ण अद्वैत का सिद्धान्त फलित होता है। अतः प्रत्ययवादी दृष्टिकोण भी सत्यांश है।

'है' (सत्) परम अस्तित्व है। 'अमुक है'—यह अपर अस्तित्व है। परम अस्तित्व में कोई विभाजन नहीं है, न द्रव्य और न पर्याय। अपर अस्तित्व में विभाजन होता है। उसकी सीमा में द्रव्य है और उसके अनेक प्रकार हैं। पर्याय हैं और वे अनन्त हैं। द्रव्य में दो प्रकार के गुण समन्वित होते हैं—सामान्य और विशेष। ये एक-दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते। सामान्यशून्य विशेष और विशेषशून्य सामान्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। सामान्य गुण द्रव्य के अस्तित्व को बनाए रखता है किन्तु उसकी विशेषता का अपहरण नहीं करता। विशेष गुण द्रव्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखता है किन्तु उसके अस्तित्व में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं करता।

जब हम सामान्य दर्शन की धारा में होते हैं तब परम अस्तित्व को देखते हैं और जब हम विशेष दर्शन की धारा में होते हैं तब हम अपर अस्तित्व को देखते हैं। यह परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व का विभाजन नहीं किन्तु हमारे दर्शन का विभाजन है। हम एक साथ दोनों को नहीं देख सकते इसलिए जगत को कभी सामान्य के कोण से देखते हैं और कभी विशेष के कोण से। सामान्य के कोण से देखने पर परम अस्तित्व का सत्यांश उपलब्ध होता है और विशेष के कोण से देखने पर अपर अस्तित्व का सत्यांश उपलब्ध होता है। इस सापेक्ष व्याख्या में न प्रत्ययवाद वस्तुवाद का विरोधी है और न वस्तुवाद प्रत्ययवाद का। प्रत्ययवाद का ध्येय है—केवल चैतन्य की वास्तविक सत्ता स्थापित करना और वस्तुवाद का ध्येय है—चैतन्य से वस्तु की स्वतन्त्रता स्थापित करना।

ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र है। यदि वह ज्ञाता से स्वतन्त्र न हो तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्ध दो में स्थापित होता है। एक में कोई सम्बन्ध नहीं होता। ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता हैं। ज्ञाता के जानने के क्षणों में वह निर्मित नहीं होता और ज्ञाता के न जानने के क्षणों में वह विलुप्त नहीं होता। प्रत्ययवादियों का तर्क है—ज्ञेय स्वतन्त्र हो तो उसका अनुभव सबको समान होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता। एक ही वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपों में जानते-देखते हैं। इस भेद का कारण हमारे मन में है। यह तर्क बहुत गम्भीर नहीं है। हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। इसलिए एक वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपों में जानते-देखते हैं। देश, काल, वातावरण, रुचि, पूर्व-मान्यता, झुकाव, मन की ग्रहणशक्ति का तारतम्य आदि मिलकर सापेक्षता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षदृष्टि से वस्तुवादियों का यह सत्यांश समर्थित होता है कि वस्तु की सत्ता हमारे मन में नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है कि 'वृक्ष हमारे मन में नहीं है। वृक्ष का विचार मन में है, किन्तु वृक्ष नहीं।'

वस्तु की सत्ता मन से स्वतन्त्र होने पर ही उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है। एफ.सी.एस. शिलर ने प्रत्ययवादी होते हुए भी इसे स्वीकृति दी है। उनका अभ्युपगम है कि जिस प्रकार वस्तु के लिए मन की आवश्यकता है उसी प्रकार मन को मनन करने के लिए वस्तु की आवश्यकता है। अनेकान्त दर्शन ने जात्यन्तर के सिद्धान्त की स्थापना की। उसका तात्पर्य यह है कि भेद और अभेद जैसा स्वतन्त्र गुण कोई नहीं है। जहां भेद है वहां अभेद है और जहां अभेद है वहां भेद। भेदाभेद ही वास्तविक है। ज्ञाता ज्ञेय से सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि वह ज्ञेय से सर्वथा भिन्न हो तो उनमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि वह सर्वथा अभिन्न हो तो भी उनमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे भिन्न-अभिन्न हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध परस्पराश्रित है, इसलिए परस्पराधीन है। शेलिंग का यह तर्क— 'विषयों की सिद्धि पर उनकी ज्ञाता आत्मा की सिद्धि और ज्ञाता की सिद्धि पर उनके ज्ञेय विषयों की सिद्धि निर्भर है, अर्थपूर्ण नहीं है। मूल आधार अस्तित्व है। ज्ञाता और ज्ञेय का एक सम्बन्ध है। अस्तित्व होने पर सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध से अस्तित्व नहीं होता। 'होना' और 'सिद्ध होना'— दोनों एक बात नहीं है। परमाणु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सिद्ध होने से पूर्व वह नहीं था यह नहीं माना जा सकता। सिद्धि ज्ञान के विकास पर निर्भर है, किन्तु अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं है। उसकी निर्भरता अपने मौलिक गुणों पर है।

हम केवल पौद्गलिक वस्तु को ही नहीं जानते, चेतन द्रव्य को भी जानते हैं। ज्ञाता चेतन ही होता है, किन्तु ज्ञेय चेतन और अचेतन—दोनों हो सकते हैं। जैसे पौद्गलिक वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है वैसे ही एक आत्मा से दूसरी आत्माएं स्वतंत्र हैं। आत्माएं अनेक हैं। इसलिए जो आत्मा दूसरों का ज्ञान करते समय ज्ञाता होती है वह दूसरी आत्मा के द्वारा ज्ञेय हो जाती है। पौद्गलिक वस्तु में केवल ज्ञेय धर्म होता है, किन्तु आत्मा में ज्ञाता और ज्ञेय— ये दोनों धर्म होते हैं। महान दार्शनिक काण्ट का यह वाक्य— 'विचार को वस्तु नहीं बनाना चाहिए' जितना सत्य है उतना ही यह सत्य है कि 'वस्तु को विचार नहीं बनाना चाहिए।' अनेकान्तवाद ने विचार और वस्तु— दोनों की सापेक्ष व्याख्या की है। परम अस्तित्व के जगत में विचार और वस्तु का भेद नहीं है। अपर अस्तित्व के जगत में विचार से वस्तु भिन्न है। प्रत्ययवादी शैलिंग ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा और अनात्मा एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। एक की स्थिति दूसरे के बिना नहीं हो सकती।[१] इस स्वीकार को अनेकान्तवाद का समर्थन मिलता है। उसके अनुसार जो सत् है वह सप्रतिपक्ष होता है। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इस स्थिति में वस्तुवाद भी सत्यांश है। प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्यांश हो जाते हैं और परस्पर-सापेक्ष होकर सत्यांश बन जाते हैं। परम अस्तित्व की स्वीकृति के बिना वस्तु और उसके पारस्परिक सम्बन्धों के मूल आधार की व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तु की स्वतन्त्रता की स्वीकृति के बिना विशिष्ट गुणों की व्याख्या नहीं की जा सकती। इन दोनों की सांमजस्यपूर्ण व्याख्या परम अस्तित्व और वस्तु की स्वतन्त्रता की सापेक्ष-स्वीकृति द्वारा ही की जा सकती है।

---

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास पृष्ठ १७४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद और अनेकान्त

जैन-दर्शन यथार्थवादी दर्शन है। उसके अनुसार उसने पंच अस्तिकाय के आधार पर विश्व की व्याख्या की है। अस्तिकाय की व्याख्या के लिए एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाया, उसका नाम है—अनेकांत। अनेकांतात्मक दृष्टिकोण की प्रतिपादन शैली का विकास किया, उसका नाम है—स्याद्वाद। अनेकांत और स्याद्वाद सर्वथा एक नहीं हैं और सर्वथा विभक्त भी नहीं हैं।

अनेकान्त का मूल आधार है नयवाद। भगवान महावीर ने अस्ति अथवा अस्तिकाय की व्याख्या के लिए दो नयों का आलंबन लिया—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। अस्तिकाय अनादि अनंत हैं इसलिए वे ध्रुव हैं। वे परिणमनशील हैं, पर्यायात्मक हैं इसलिए वे अध्रुव हैं, अनित्य हैं। इस नित्यानित्यात्मक विरोधी युगल के सह-अस्तित्व की स्वीकृति का दृष्टिकोण अनेकांत है।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी है और जैन दर्शन भी द्वैतवादी। अनेकांत का सम्बन्ध द्वैतवाद से नहीं है। उसका सम्बन्ध दो विरोधी द्रव्यों अथवा दो विरोधी धर्मों में सह-अस्तित्व स्थापित करने वाले समन्वय के नियम को खोजने में है। प्रत्येक अस्तिकाय में अनंत धर्म हैं और वे विरोधी युगलात्मक हैं। यदि परस्पर विरोधी ही होते तो अस्तित्व सुरक्षित नहीं रहता। विरोधी युगलों का अस्तित्व उसे समाप्त कर देता। उन विरोधी धर्मों में अविरोध के नियम को खोजना अनेकांत का मुख्य प्रयोजन है और उस अविरोध के नियम की सापेक्ष दृष्टि से व्याख्या करना स्याद्वाद का कार्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकांत का क्षेत्र केवल द्वैतवाद नहीं, अद्वैतवाद भी है। वेदान्त का अन्तिम सत्य ब्रह्म है। संग्रह नय का अन्तिम सत्य अस्तित्व है। उसमें चैतन्य और अचैतन्य का विभाग भी नहीं है। भूताद्वैतवाद अथवा चैतन्याद्वैतवाद—इन दोनों में क्रमशः अचैतन्य और चैतन्य की स्वीकृति है किन्तु पर-संग्रह नय में ये दोनों गौण हैं, केवल सत्ता की स्वीकृति है। इसलिए अनेकांत को एक, दो, तीन आदि की संख्या से जोड़ना अर्थवान नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार मूल द्रव्य दो हैं जीव और अजीव किन्तु उनमें सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद नहीं है। यह भेदाभेदात्मक दृष्टिकोण अनेकांत का प्राणतत्व है। स्याद्वाद के द्वारा इस सत्य का प्रतिपादन इस प्रकार होगा—

१. स्यात्-कथंचित्, किसी अपेक्षा से जीव अजीव से भिन्न है।

२. स्यात्-कथंचित्, किसी अपेक्षा से जीव अजीव से अभिन्न है।

महान दार्शनिक अकलंक ने जीव को चेतनाचेतनात्मक कहा। उनके अनुसार प्रमेयत्व आदि धर्मों से जीव अचिदात्मा है और चैतन्य धर्म से वह चिदात्मा है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनत स्तस्माद् चेतनाचेतनात्मकः॥

जीव और अजीव में सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद है, यह सिद्धान्त संगत नहीं है। यदि सर्वथा भेद हो तो कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यदि सर्वथा अभेद हो तो द्वैत नहीं हो सकता, माया प्रतिबिम्ब आदि कुछ भी नहीं हो सकते। कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद—यह समन्वय का नियम है और इसी नियम के आधार पर जीव और अजीव में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसके बिना चेतन और अचेतन—ये दो शब्द निरर्थक बन जाते हैं।

स्यात् इस शब्द के विषय में धारणाएं स्पष्ट नहीं है। सुप्रसिद्ध बौद्ध तर्कविद् धर्मकीर्ति ने स्यात् शब्द पर जो आक्षेप किया है, वह उन जैसे सूक्ष्म मति वाले तार्किक द्वारा किया हुआ है, ऐसा सोचना भी शक्य नहीं है। उन्होंने लिखा— 'यदि सब वस्तु दोनों, रूप हैं तो दही दही ही है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा ऊँट नहीं अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दही में उसकी विशेषता को इन्कार करने से किसी को 'दही खा' कहने पर वह क्यों ऊँट पर नहीं दौड़ता?'

'यदि दही में कुछ विशेषता है, जिस विशेषता के साथ दही वर्तमान है, ऊँट नहीं, तब तो वह विशेषता अन्यत्र भी है, यह बात नहीं रही और इसीलिए, सब वस्तु दोनों रूप नहीं, बल्कि अपना ही अपना है और पर ही पर है।'

शंकराचार्य से लेकर अब तक अधिकांश विद्वान स्याद्वाद को संशयवाद के रूप में ही प्रस्तुत करते रहे। इसकी दार्शनिक गहराई में जाने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। स्यात् पद का प्रयोग द्रव्य की अनंत धर्मात्मकता को सूचित करता है। वह अनिश्चय अथवा संशय का सूचक नहीं है। एक क्षण में एक शब्द अथवा वाक्य के द्वारा एक साथ अनंत धर्मात्मक द्रव्य के अनंत धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इस अशक्यता के दोष का परिहार करने के लिए 'स्यात्' इस शब्द का प्रयोग किया गया। चैतन्य जीव द्रव्य का समग्र स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार अचेतनता भी अजीव का समग्र स्वरूप नहीं है। चैतन्य और अचैतन्य—दोनों विशेष गुण हैं इसीलिए इनमें लक्षण बनने की क्षमता है। जब हम विशेष गुण के द्वारा द्रव्य का प्रतिपादन करते हैं तब उसमें विद्यमान शेष सामान्य गुणों का अस्वीकार नहीं कर रहे हैं, किन्तु वर्तमान में वे अविवक्षित हैं। इस सत्य को सूचित करने का दायित्व 'स्यात्' पद पर है। द्रव्य के अस्ति धर्म का प्रतिपादन करना द्रव्य की समग्रता का प्रतिपादन नहीं है और समग्रता का प्रतिपादन हो भी नहीं सकता। प्रतिपादन के दो उपाय हैं—

१. एक धर्म का प्रतिपादन।

२. एक धर्म के माध्यम से अनंत धर्मात्मक द्रव्य का प्रतिपादन।

पहली पद्धति नयवाद की है। जैन दर्शन में केवल अनेकांत ही मान्य नहीं है, एकांत भी मान्य है। प्रसिद्ध सूत्र है—

अनेकांतोप्यनेकान्तः

स्याद्वादनयसाधनः।

स्याद्वाद दार्शनिक जगत में समग्र द्रव्य की प्रतिपादन शैली का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिनव विकास है। यदि धर्मकीर्ति वर्तमान युग में होते, उनके सामने हाईजन वर्ग का प्रोबेबिलिज्म (संभावनावाद) का सिद्धान्त सामने होता तो स्याद्वाद पर इतना हलका आक्षेप या व्यंग्य नहीं करते। दही एक पर्याय है। पर्याय पर्याय है। ऊँट भी एक पर्याय है। वर्तमान अवस्था में दोनों पर्याय भिन्न हैं। किन्तु दही के परमाणु ऊँट के शरीर के परमाणु नहीं बन सकते अथवा ऊँट के शरीर के परमाणु दही के परमाणु के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकते। यह लक्ष्मण रेखा संक्रमण के सिद्धान्त में कोई नहीं खींच सकता। स्याद्वाद का यह प्रतिपादन भी नहीं है। उसका प्रतिपाद्य है— एक पर्याय में दूसरे पर्याय का प्रतिषेध, भावी पर्याय की सम्भावना का स्वीकार। दही ऊँट नहीं ही है और ऊँट दही नहीं ही है। स्याद्वाद का यह प्रतिपाद्य है। ऊँट दही भी है और दही ऊँट भी है, यह प्रतिपाद्य कतई नहीं है। वर्तमान पर्याय का अस्तित्व और भावी पर्याय का नास्तित्व बतलाने में ही स्यात् पद की कृतार्थता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामि-नित्य

आंधी चल रही है। उसमें जितनी शक्ति आज है, उतनी ही कल होगी, यह नहीं कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नहीं है और जो आज है उसका आने वाले कल में होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया में एकरूपता के लिए कोई अवकाश नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद हैं, वे कभी काले रहे हैं। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले हैं। वे एकरूप नहीं रह सकते। केवल बाल ही क्या, दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नहीं रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणों पर गहराई से विचार किया है, अतंर्बोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धान्त की स्थापना की। उसका नाम है 'परिणामि-नित्यत्व वाद'।

इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य नहीं है और कोई भी तत्त्व सर्वथा अनित्य नहीं है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन-शून्य नहीं होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नहीं होता इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप में उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों परिणमन के आधार बनते हैं और ध्रौव्य—उनका अन्वयी-सूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति में भी रहता है और व्यय की स्थिति में भी रहता है। वह दोनों को अपने साथ जोड़े हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहली बार नहीं हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है, वह भी पहली बार नहीं हो रहा है। उससे पहले वह अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नहीं हुआ। ध्रौव्य उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नहीं होती। इस बिन्दु को पकड़ने वाले 'कूटस्थ नित्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। अस्तित्व के समुद्र में होने वाली उर्मियों को पकड़ने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा में देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा गया— आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होंने एक ही उत्तर दिया—अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा में वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

तत्त्व में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्त्व की स्थिति के और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते हैं। सहभावी धर्म 'गुण' और क्रमभावी धर्म 'पर्याय' कहलाते हैं। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नहीं हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थनित्यवादियों से पूछा—पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? कोई बताये तो सही। उन्होंने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियों से पूछा कि वे बताएं तो सही कि द्रव्य शून्य पर्याय किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? अवस्थाविहीन अवस्थावान और अवस्थाविहीन अवस्थाएं— ये दोनों तथ्य घटित नहीं हो सकते। जो घटना-क्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थाई तत्त्व है। घटना-क्रम उसी में चल रहा है। वह उससे बाहर नहीं है। तालाब में एक कंकर फेंका और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरंगें उठीं। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शांत था, वह क्षुब्ध हो गया, तरंगित हो गया। तरंग तल में है। जल से भिन्न तरंग का कोई अस्तित्व नहीं है। जल में तरंग उठती है इसलिए हम कह सकते हैं कि तालाब तरंगित हो गया। तरंगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान में घटित होती है। जलाशय नहीं है तो जल नहीं है। जल नहीं है तो तरंग नहीं है। तरंग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरंग न हो—ऐसा भी नहीं हो सकता। जल का होना तरंग होने के साथ जुड़ा हुआ है। जल और तरंग—दोनों एक-दूसरे में निहित हैं—जल में तरंग और तरंग में जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य कहां देख पाते हैं। हम देखते हैं पर्याय को। हमारा जितना ज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नहीं जान सकता। मैं उसके अनेक पर्यायों में से एक पर्याय को जानता हूं और उसके माध्यम से यह जानता हूं कि यह मनुष्य है। जब आंख से उसे देखता हूं तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायों के आधार पर उसे मनुष्य कहता हूं. कान से उसका शब्द सुनता हूं, तब उसे शब्द-पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हूं। उसकी समग्रता को मैं भी नहीं पकड़ पाता। आम को कभी मैं रूप-पर्याय से जानता हूं, कभी गंध-पर्याय से और कभी रस-पर्याय से। किन्तु सब पर्यायों से एक साथ जानने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। आंख जब रूप को देखती है तो गंध और रस आदि पर्याय नीचे चले जाते हैं। गंध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सन्दर्भ में मैं कहता हूं कि मैं द्रव्य को नहीं देखता हूं, केवल पर्यायों को देखता हूं और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हूं।

हमारा पर्याय का जगत बहुत लम्बा-चौड़ा है और द्रव्य का जगत बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के वलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के पटल में छिपा हुआ है। उसका बोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए सम्भव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आन्तरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी बात नहीं है। परिणमन का क्रम निरन्तर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है। वह परिणमन का आंतरिक हेतु है इसलिए प्रत्येक अस्तित्व में व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमनशील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता, इसलिए अस्तित्व में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नहीं की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तों से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते हैं और उसके कार्य-कारण की व्याख्या करते हैं। कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बीमारी नहीं, चोट नहीं, आघात नहीं और कोई मरने वाला भी नहीं, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवर्तन है। जीवन में उसकी आन्तरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म के पहले क्षण में ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण में नहीं मरता, वह फिर कभी नहीं मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए फिर उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। बाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्याख्या बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा में होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते हैं। किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सृजन, विकास और प्रलय—जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से घटित होता है। काल दोनों का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओं में बाहरी निमित्त भी अपना योग देते हैं। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व में स्वयं सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक— दोनों स्तर पर होता है। पानी में चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश में बादल मंडराए और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कंध मिले और बादल बन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व में होते हैं। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते हैं, वे सब वैयक्तिक होते हैं। पांच अस्तिकाय (अस्तित्व) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इनका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत है वह सब इन दो द्रव्यों के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवों ने अपने शरीर के रूप में रूपायित किया है। इसे इन शब्दों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह या तो जीवच्छरीर हैं या जीवों द्वारा त्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काल, प्रदेश राशि) होता है। पुद्गल को छोड़कर शेष चार अस्तित्वों का प्रचय स्वभावतः अविभक्त है। उसमें संघटन और विघटन—ये दोनों घटित होते हैं। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप में रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते हैं। वास्तविक अर्थ में सामुदायिक परिणमन पुद्गल में ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही होता है। जगत के नाना रूप उसी के माध्यम से निर्मित होते हैं। यह जगत एक रंगमंच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपों में परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमें जीवन का भी योग होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमें परिवर्तित होने की क्षमता नहीं होती, वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए नहीं रख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनरूप अपने आप में परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है। एक परमाणु अनन्तगुना काला है। वही परमाणु एकगुना काला हो जाता है। जो एकगुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नहीं आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमें भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणों और अनन्त घटनाओं में किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनन्त परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनन्त न हो तो अनन्तकाल में वह अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकता।

अस्तित्व में अनन्त धर्म होते हैं, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास में घी है? इसका उत्तर होगा घास में घी है, किन्तु व्यक्त नहीं है। क्या दूध में घी है? दूध में घी है, पर पूर्ण व्यक्त नहीं है। दूध को बिलोया या दही बनाकर बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य में 'ओघ' और 'समुचित'—ये दो प्रकार की शक्तियां काम करती हैं। 'ओघ' नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। अब आप पूछें कि घास में घी है या नहीं? तो उत्तर होगा— 'ओघ' शक्ति की दृष्टि से है, किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से नहीं है। पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चारों मिलते हैं। गुलाब के फूल में जितनी सुगन्ध है, उतनी ही दुर्गन्ध है। किन्तु उसमें सुगंध व्यक्त है और दुर्गन्ध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कड़वी है। किन्तु उसमें मिठास व्यक्त है और कड़वाहट अव्यक्त। सडांध में जितनी दुर्गन्ध है, उतनी सुगन्ध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर से बाहर जा रहा था। मन्त्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई। उसमें जल भरा था। वह कूड़े-करकट से गंदा हो रहा था। उसमें मृत पशुओं के कलेवर सड़ रहे थे। दूर तक दुर्गन्ध फूट रही थी। राजा ने कपड़ा निकाला और नाक को दबा लिया। 'कितनी दुर्गन्ध आ रही है,' राजा ने मन्त्री की ओर मुड़कर कहा। मन्त्री तत्त्ववेत्ता था। उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा— 'महाराज! यह पुद्गलों का स्वभाव है।' उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभंगी से मंद कर दिया। बात वहीं समाप्त हो गई। कुछ दिन बाद मन्त्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पीया—अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित। राजा बोला— 'मन्त्री! यह पानी तुम कहां से लाते हो? इच्छा होती है एक गिलास और पीऊं। मैं तुम्हें अभिन्न मानता हूं, किन्तु तुम मुझे वैसा नहीं मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो, मुझे कभी नहीं पिलाते।' मन्त्री मुस्कराया और बोला— 'महाराज! यह पानी उस खाई से लाता हूं, जहां आपने नाक-भौं सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी।' राजा ने कहा— 'यह नहीं हो सकता । यह पानी उसी खाई का कैसे हो सकता है?' मन्त्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने उसका प्रमाण चाहा। मन्त्री ने उस खाई का पानी मंगवाया। राजा की देख-रेख में सारी प्रक्रियाएं चलीं और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगंधित हो गया जैसा राजा ने मन्त्री के घर पिया था। केवल पानी ही क्या हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र चलता रहता है, वस्तुएं बदलती रहती हैं। 'ओघ' शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगंधमय या दुर्गंधमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नहीं कह सकते। एक नीम के पत्ते में वे सारे धर्म विद्यमान हैं जो दुनिया में होते हैं। किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसके आधार पर देखें तो नीम का पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगंध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं में बहुत सारी बातें घटित होती हैं। उसमें ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी है। ऊर्जा परिणमन के द्वारा ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्य-संहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या परिणामि-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले वैज्ञानिक जगत में यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में नहीं बदला जा सकता। दोनों स्वतन्त्र हैं। किन्तु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धान्त बदल गया। यह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनों भिन्न नहीं किन्तु एक ही वस्तु के रूपांतरण हैं। एक पौंड कोयला लें और उसकी द्रव्य-संहति को शक्ति में बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त-धारा में वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमें अनन्त-शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत में जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति में ले जाया जा सकता है, जहां उसकी स्थूलता समाप्त हो जाए, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहति समाप्त हो जाए और उसे शक्ति के रूप में बदल दिया जाए।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते हैं तब वह द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है? आदमी कोई द्रव्य नहीं है। आदमी है कहां? आप सारी दुनिया में ढूढ़ें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नहीं मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नहीं है। वह एक पर्याय है। दुनिया में जितनी वस्तुओं को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्यायें हैं। हम पर्याय को देख रहे हैं। द्रव्य हमारे सामने नहीं आता। वह आंखों से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों में प्रकट किया था—

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

—हम अभेद के परिपार्श्व में चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व में चलें तो द्रव्य लुप्त हो जाएगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बड़ी हो जाएगी। भेद अभेद को निगल जाएगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत में जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व में जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी में नहीं है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल में है, उतनी किसी में नहीं है। हमारे जगत में व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मवाद और पुनर्जन्म

दर्शन का अर्थ है—तत्व का साक्षात्कार। सबसे प्रमुख तत्व आत्मा है। 'जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।' 'दर्शनं स्वात्मनिश्चिति' अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

दर्शन की आत्मा है अनुभव और उसकी प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहा जाना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है।

अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहां से आया हूं? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूं? यहां से फिर कहां जाऊंगा?

भारतीय दर्शनों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है। इनके समाधान में मुख्यत: तीन मत प्रस्तुत हुए हैं—

१. आत्मा है, पुनर्जन्म है।

२. आत्मा-परमात्मा है, पुनर्जन्म नहीं है।

३. आत्मा है, परमात्मा और पुनर्जन्म नहीं है।

आत्मवादी/ पुनर्जन्मवादी परम्परा ने प्रथम विकल्प को मान्यता दी है। जैन दर्शन आत्मा और पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा की त्रैकालिक सत्ता है।

ईसाई, इस्लाम आदि दर्शन द्वितीय विकल्प का समर्थन करते हैं। वे आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु पुनर्जन्म को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं मानते।

चार्वाक आदि दर्शन तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं। वे आत्मा को वार्तमानिक मानते हैं पर परमात्मा एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शरीर ही आत्मा है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जीव कहां से आया है? कौन था? उसे अपने पुनर्जन्म का ज्ञान नहीं है। भगवान महावीर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा—'अनेक मनुष्यों को यह संज्ञा नहीं होती कि वे किस दिशा से आये हैं।'

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्यत: दो शब्दों पर विमर्श करना आवश्यक है—संज्ञा और दिशा।

संज्ञा का सामान्य अर्थ है—संवेदन। जैन दर्शन में दस प्रकार की संज्ञाओं का वर्णन मिलता है। संज्ञा का दूसरा अर्थ है—स्मृति का ज्ञान। संज्ञान, स्मृति और अवबोध—संज्ञा के पर्यायवाची शब्द हैं। प्रस्तुत संदर्भ में संज्ञा का अर्थ है—स्मृति का ज्ञान।

आचारांग निर्युक्ति में भाव संज्ञा के दो भेद उपलब्ध होते हैं—

१. ज्ञान संज्ञा—मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान को ज्ञान संज्ञा कहा जाता है।

२. अनुभव संज्ञा—स्वकृत कर्म के उदय से होने वाला संवेदन अनुभव संज्ञा है।

जो जाना जाता है, वह ज्ञान संज्ञा है तथा जो फल भोगा जाता है, वह अनुभव संज्ञा है।

दिशा शब्द पर प्राचीन काल में बहुत विचार किया गया है। माता-पिता एवं गुरु को दिशा कहा गया है, आचार्य को भी दिशा कहा गया है।

दिशा के अनेक प्रकार हैं—

नाम दिशा—जैसे किसी व्यक्ति का नाम दिशा रख दिया।

स्थापना दिशा—किसी दिशा को स्थापित कर दिया। जैसे—मानचित्र आदि में विभिन्न प्रदेशों को विभिन्न दिशाओं में दिखाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य दिशा—मेरू पर्वत के क्षुल्लक प्रतर में आठ रुचक प्रदेश है। ये रुचक प्रदेश ही दिशाओं एवं विदिशाओं के उत्पत्ति स्थान हैं। वहां से जो दिशाएं निकलती हैं उन्हें द्रव्य दिशा कहा जाता है। मेरू पर्वत के रुचक प्रदेश दिशा के मूलस्रोत है।

ताप दिशा—सूर्योदय-सूर्यास्त से सम्बद्ध दिशा ताप दिशा कहलाती है। जैसे जहां सूर्य उदित होता है, वह पूर्व दिशा है। जहां अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है।

प्रज्ञापक दिशा—कोई मनुष्य खड़ा है—उसके ठीक सामने पूर्व, पृष्ठभाग में पश्चिम, दाहिनी ओर दक्षिण तथा बायीं ओर उत्तर दिशा है—यह प्रज्ञापक दिशा का सूचक है। ये दिशाएं निमित्त कथन की अपेक्षा से हैं। इन चारों दिशाओं के बीच में चार विदिशायें हैं। चार दिशायें और चार विदिशायें इन आठों के अन्तराल में आठ अन्य दिशायें कहलाती हैं। नीचे की दिशा अधोदिशा तथा ऊपर की दिशा ऊर्ध्वदिशा कहलाती है। इस प्रकार प्रज्ञापक दिशा के ये अठारह भेद होते हैं और ये ही अठारह भेद ताप दिशा के भी होते हैं।

भाव दिशा—यह जीव दिशा है। आचारांग वृत्ति में इसके भी अठारह भेद उपलब्ध होते हैं—

चार मनुष्य—सम्मूर्च्छिज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज।
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय।
पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजसकायिक, वायुकायिक।
वनस्पति काय के चार—अग्रमूल, पर्व, स्कंध, बीज।
देव और नारक।

यहां क्षेत्र दिशा की अपेक्षा नहीं है। वह बहुत छोटी है। उसमें जीव पैदा नहीं हो सकते। 'एक प्रदेशिकत्वात् चतुः प्रदेशिकत्वात्' या तो वह एक प्रदेशी है या चतु-प्रदेशी है। चार महादिशाओं में जीव उत्पन्न हो सकते हैं।

विवेच्य संदर्भ में दिशाओं के अन्य भेद प्रासंगिक नहीं हैं। अठारह प्रज्ञापक दिशायें ही अभिप्रेत हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर ने कहा— 'जैसे पुर्वजन्म का संज्ञान नहीं होता वैसे ही अनके व्यक्ति पुनर्जन्म को नहीं जानते। उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक है, पुनर्जन्म लेने वाली है। यहां से च्युत होकर मैं कहां जाऊँगा।

आत्मवाद के ये चार मूल आधार हैं—

१. मैं कौन हूं?

२. मैं कहां से आया हूं?

३. क्या मेरी आत्मा पुनर्भवी है?

४. मैं कहां जाऊंगा?

आत्मा थी या नहीं? आत्मा होगी या नहीं? क्या आत्मा का अस्तित्व है? आत्मा क्या है? क्या आत्मा और पदार्थ एक है? आत्मा का पदार्थ से क्या सम्बन्ध है—इन प्रश्नों पर आज के वैज्ञानिकों द्वारा की गयी खोंजें भी महत्त्वपूर्ण हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की तीन अवस्थायें मानी जाती थीं—ठोस, द्रव और गैस। उसके बाद चौथी अवस्था 'प्लाज्मा' को भी स्वीकार किया गया। फिर पांचवीं अवस्था और खोजी गई— प्रोटोप्लाज्म। यानि जैव प्लाज्म। प्रोटोप्लाज्म की तुलना प्राण से की जा सकती है। हमारी जो प्राण शक्ति है, वही प्रोटोप्लाज्म है।

सोवियत संघ के भौतिकी शास्त्रवेता श्री वी.सी. ग्रिश्चेको का कहना है— 'जैव प्लाज्म में स्वतन्त्र इलेक्ट्रोन और स्वतन्त्र प्रोटोन होते हैं, जिनका अस्तित्व स्वतन्त्र होता है और जिनका नाभिक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता । इनकी गति बहुत तीव्र होती है और दूसरे जीवधारियों में शक्ति संवहन करने में यह सक्षम होता है। यह मानव की सुषुम्ना नाड़ी में एकत्रित रहता है। यह टैलीपैथी मनोवैज्ञानिक और मनोगति की प्रक्रिया से मिलता जुलता है।'

सोवियत वैज्ञानिकों ने बायोप्लाज्मा से सम्बन्धित निम्न निष्कर्ष निकाले हैं—

१. प्लाज्मा का मूल स्थान मस्तिष्क है और सबसे सघन अवस्था में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह यहीं पाया जाता है।

२. बायोप्लाज्मा की सर्वाधिक गतिविधियां सुषुम्ना नाड़ी और स्नायविक कोशिकओं में रहती है। सुषुम्ना नाड़ी में यह अधिक क्रियाशील रहता है।

३. स्नायुओं के केन्द्र स्थान में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है।

इन निष्कर्षों के आधार पर वे दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि बायोप्लाज्मा का अस्तित्व है और यह भारतीय दर्शन के सूक्ष्म शरीर से बहुत साम्य रखता है।

शरीर की नश्वरता एवं प्रोटोप्लाज्मा की अमरता को भी वैज्ञानिक जगत में स्वीकृति मिल चुकी है। उनका कहना है—हमारा सारा शरीर कोशिकाओं द्वारा बना है। प्रत्येक कोशिका में 'प्रोटोप्लाज्म' नामक एक तरल एवं चिकना पदार्थ होता है। इस प्रोटोप्लाज्म के द्वारा दूषित वायु बाहर आती है और ताजी हवा अन्दर जाती है। हमारी सांस के साथ करोड़ों की संख्या में ये प्रोटो-प्लाज्म कण विद्यमान रहते हैं। इन प्रोटोप्लाज्म कणों में 'न्यूक्लीयस' नामक अन्य पदार्थ होता है, जो मानव शरीर को जीवन शक्ति प्रदान करता है। कोशिकाओं को पुष्ट करने में सहायक होता है। जब न्यूक्लीयस पदार्थ क्षीण होता है तब प्रोटोप्लाज्म कण क्षीण होने लग जाते हैं। ये कण क्षीण होते-होते अकस्मात खत्म हो जाते है और इनसे मूल चेतना गायब हो जाती है।

मृत्यु के पश्चात प्रोटोप्लाज्म शरीर से अलग होकर वायुमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है। वहां से यह खेतों-खलिहानों के माध्यम से वनस्पति में पहुंचता है। उसके बाद फल-फूल, अनाज आदि में प्रविष्ट होकर भोजन के साथ मनुष्य के शरीर में चला जाता है। ये ही प्रोटोप्लाज्म कण 'जीन्स' में परिवर्तित होकर नए शिशु के साथ पुनः जन्म लेते हैं।

विज्ञान सम्बन्धी खोजों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि व्यक्ति का पुनर्जन्म संभव है। प्रयोगशालाओं में किए गए अनेक प्रयोगों के पश्चात वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मरणोपरान्त कोई ऐसा सूक्ष्म तत्त्व रह जाता है, जो इच्छानुसार पुनः किसी भी शरीर में प्रवेश कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक नए शरीर को जन्म दे सकता है।

लन्दन के प्रसिद्ध डॉ. डब्ल्यू जे. किल्लर ने अपनी पुस्तक 'दी ह्यमन एट्मास्फियर' में ऐसे अनेक प्रयोगों का वर्णन किया है, जो उन्होंने मरणान्त मरीजों की जांच करते समय किए थे। उनका निष्कर्ष है—'मानव देह में एक प्रकाशपुंज का अस्तित्व अवश्य रहता है जो मृत्यु के बाद यथावत रहता है।

सोवियत वैज्ञानिकों ने पुनर्जन्म की स्वीकृति को महत्त्व प्रदान करते हुए आत्म-विश्वास भरे स्वरों में कहा— 'जीवधारियों में प्रकाश-पुंज कोई सूक्ष्म-शक्ति या कोई अदृश्य शरीर भौतिक शरीर को आवृत किए रहता है। इसका प्रमाण हमको मिल गया है।' इस प्रकाश पुंज को 'इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप' द्वारा देखा गया। इसके द्वारा उन्होंने मरणान्त जीवधारी पर ऐसी चीज डिस्चार्ज होते देखी है, जिसे पहले क्लेयर वोमेटस ही देख पाते थे। जीवित शरीर में ही उनको उसी शरीर की प्रतिकृति देखने को मिली है। यही प्रतिकृति विद्युत चुम्बकीय क्षेत्रों में समा जाती है। इस अदृश्य शरीर की एक विशिष्ट संरचना है।

आत्मा से सम्बद्ध खोज एवं प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में अभी जारी हैं। अब तक आत्मा के सन्दर्भ में विज्ञान द्वारा स्वीकृत महत्वपूर्ण तथ्य हैं—

१. पूर्वजन्म है, पुर्नजन्म है।

२. प्रोटोप्लाज्म ही आत्मा है और वह नष्ट नहीं होता।

३. भौतिक शरीर के भीतर कोई अदृश्य शरीर है।

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म एवं आत्मा की अमरता की स्वीकृति से आत्मवाद के प्रमाणित होने की संभावनायें बढ़ती हैं।

वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज्म को आत्मा माना है। उसके उन्होंने जो लक्षण बतलाए हैं उसके आधार पर उसे जैन दर्शन का सूक्ष्म शरीर कहा जा सकता है, आत्मा नहीं। सूक्ष्म शरीर पुनः जन्म लेता है। प्रोटोप्लाज्म भी पुनः 'जीन्स' में परिवर्तित होकर शरीर धारण करता है। सूक्ष्म शरीर न द्रव है, न गैस है, न ठोस है। प्रोटोप्लाज्म भी इनसे भिन्न है। सूक्ष्म शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतु:स्पर्शी होता है इसे आंखों के द्वारा नहीं देखा जा सकता। प्रोटोप्लाज्म भी अत्यन्त सूक्ष्म कण है। अवधिज्ञानी, अतीन्द्रिय ज्ञानी अपने आंतरिक उपकरणों को जागृत कर सूक्ष्म शरीर को देखते है और वैज्ञानिक सूक्ष्म-यंत्रों द्वारा प्रोटोप्लाज्म को देखते हैं। भौतिक शरीर के भीतर जो अदृश्य शरीर है, जिसे यंत्रों द्वारा देखा गया है वह भी प्रोटोप्लाज्म या सूक्ष्म शरीर है। वैज्ञानिक भारतीय दर्शन में वर्णित आत्मा के स्वरूप को अब तक नहीं पकड़ पाए हैं।

भगवान महावीर ने पूर्वजन्म को जानने के तीन साधन बतलाए हैं—

सह सम्मुइयाए—स्व-स्मृति। प्राकृत में सह शब्द के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और सह यानी साथ। यहां 'स्व' शब्द इष्ट है।

पर वागरणेणं—पर व्याकरण के द्वारा। प्रश्नोत्तर यानी जिज्ञासा और समाधान के द्वारा पूर्वजन्म को जाना जा सकता है। पर व्याकरण का अर्थ प्रत्यक्ष द्वारा निरूपित भी किया गया है। किन्तु यह अर्थ ज्यादा युक्ति-संगत नहीं है।

अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा—न जिज्ञासा, न स्वस्मृति किन्तु दूसरों के पास सुनकर जानना। जैसे—किसी व्यक्ति ने कहा—पूर्वजन्म में अमुक व्यक्ति वह था। इस बात को सुनकर पूर्वजन्म का बोध हो जाता है।

स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है। वह किसी निमित्त से जाग जाती है तो जाति-स्मृति कहलाती है। विज्ञान एवं परामनोविज्ञान की मान्यता है कि शिशु के स्मृति-पटल पर प्रोटोप्लाज्म कण जागृत होने पर स्मृति जाग जाती है, पूर्वजन्म की घटनाएं याद आने लग जाती हैं। जैन दर्शन सूक्ष्म शरीर की जागृति से स्मृति जागरण स्वीकार करता है।

ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता तथा शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति ही उत्पन्न होती है। कोई गहरी चोट होती है, लेश्या विशुद्ध हो जाती है। मनुष्य खूब गहरे चिन्तन में चला जाता है तो उसके संस्कार जागृत हो जाते हैं।

भगवान महावीर ने कहा— जो सब दिशाओं में अनुसंचरण करता है, जो सब दिशाओं अनुदिशाओं से आया है 'सोऽहं' वह मैं हूं। यहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने अस्तित्व का स्वीकार है। मनुष्य जन्म लेता है, मरता है और पुनः जन्म लेता है। वह मैं हूं— यह पुनर्जन्म की अभिव्यक्ति है। यह प्रत्यभिज्ञा अतीत और वर्तमान का संकलन है। प्रत्यभिज्ञा में अनुभव और स्मृति दोनों है। इससे यह फलित होता है कि मेरा अस्तित्व पहले भी था और वर्तमान में भी है। 'सोऽहं' यानि आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व का स्वीकार, पूर्वजन्म की सत्ता का साक्षात्कार।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर निरन्तर रहते हैं। ये दोनों शरीर अनादि हैं, कभी नहीं मरते। **'एते चान्तरालगता'** ये निरन्तर साथ रहने वाले हैं। प्रोटोप्लाज्म की खोज इस सत्य की पुष्टि करती है।

प्रश्न होता है जो बच्चा पैदा होता है, जीव कहां से आता है? कहीं से नहीं आता। प्रत्येक आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर और चेतना साथ आते हैं। सूक्ष्म-शरीर चेतना का संवाहक है। वह शरीर योग्य पुद्गलों को स्वतः खींच लेता है।

इस समग्र चर्चा का निष्कर्ष है—

आत्मा त्रैकालिक है, शाश्वत है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म, उनकी अभिव्यक्ति के दो कोण हैं। वैज्ञानिकों द्वारा खोजा गया 'प्रोटोप्लाज्म' नामक तत्त्व भारतीय जैन दर्शन में वर्णित सूक्ष्म शरीर है, आत्मा नहीं।

सूक्ष्म शरीर संसारी आत्मा के साथ निरन्तर रहने वाला है और वह नए शरीर के निर्माण का मूल बिन्दु है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसने आत्मा, आत्मा के अस्तित्व के साथ-साथ उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। आयारो सबसे प्राचीन ग्रंथ है। उसमें आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवान महावीर ने कहा—

'जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।' आत्मा का लक्षण है विज्ञान।

'जिसके द्वारा जानता है, वह आत्मा है।'

आत्मा ज्ञाता है, यह द्रव्याश्रित परिभाषा है। जो ज्ञाता है वह आत्मा है। जो आत्मा है, वह ज्ञाता है। इसमें चेतना और उपयोग का अभेदात्मक कथन है।

इसका भेदात्मक रूप है जिसके द्वारा जानता है, वह ज्ञाता है। जिसको जाना जाता है, वह आत्मा है। पर्यायनय की अपेक्षा से आत्मा का यह लक्षण अभिव्यंजित है।

'तं पडुच्च पडिसंखाए' उस ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा का प्रतिसंख्यान होता है, ज्ञान होता है। भेदात्मक परिभाषा में आत्मा साध्य है, उसे जानने का साधन है ज्ञान। अभेदात्मक परिभाषा में विज्ञाता और आत्मा का एकत्व है, ध्याता और ध्येय का एकीभाव है।

आत्मा का यह स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। **'चैतन्यलक्षणो जीवः, उपयोगलक्षणो जीवः'** ये सारे सूत्र इसके फलित हैं। यहां जानने का अर्थ है उपयोग। उपयोग चेतना में होता है। चेतना शक्ति है और उपयोग उसकी प्रवृत्ति है। **'यश्च विज्ञाता पदार्थानां परिच्छेदकः उपयोगः'** विज्ञाताऽवस्था ही उपयोग की अवस्था है। आत्मा का यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप संसारी आत्मा से सम्बद्ध है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। मुक्त आत्मा वह है जो अनुसंचरण से अतीत है। भारतीय दर्शन में एक विषय रहा है अज्ञेयवाद। जो ज्ञेय नहीं है, वह अज्ञेय है। उपनिषदों में ब्रह्मा को अज्ञेय कहा गया है। जैन दर्शन में मुक्त आत्मा का जो लक्षण वर्णित है, उसे अज्ञेयवाद का एक स्वरूप समझा जा सकता है।

मुक्त आत्मा के स्वरूप को बताते हुए आचारांग में कहा गया है— **सव्वे सरा णियट्टंति'** जहां से सारे स्वर लौट आते हैं। उपनिषद में इसका संवादी सूत्र है— **'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**। मन और वाणी से अतीत है ब्रह्मा। मन और वाणी की पहुंच से परे है आत्मा।

आत्मा न शब्द गम्य है, न तर्क गम्य है, न मति गम्य है। यह आचारांग का अज्ञेयवाद है।

जगत में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं, हेतु गम्य और अहेतु गम्य। आत्मा अहेतुगम्य है, अज्ञेय है। वह न शब्द के द्वारा ज्ञेय है, न तर्क के द्वारा ज्ञेय है और न मति के द्वारा ज्ञेय है।

मुक्त आत्मा के स्वरूप की विस्तृत मीमांसा करते हुए भगवान महावीर ने कहा— वह ओज है। ओज के दो अर्थ हो सकते हैं— अकेला और राग-द्वेष-रहित। प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम अर्थ अधिक संगत है। **'पुढो पत्ता'** दशवैकालिक सूत्र का यह कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, पृथक् अस्तित्व है। वेदान्त के अनुसार सब आत्माएं स्वतन्त्र नहीं हैं। वे ब्रह्मा में विलीन हो जाती हैं। जैन और सांख्य दर्शन आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। **ओज'** शब्द आत्मा की स्वतन्त्रता का द्योतक है।

मुक्त आत्मा का प्रतिष्ठान नहीं होता, आधार नहीं होता है। आत्मा का प्रतिष्ठान है—शरीर। मुक्त आत्मा शरीर रहित होती है। मुक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ होती है। केवल ज्ञाता होती है।

मुक्त आत्मा के लक्षण को एक अलग कोण से भी व्याख्यायित किया गया है। निषेधात्मक दृष्टि से उसके स्वरूप का विवेचन किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उपनिषद में भी नेतिवाद प्रचलित है। नेतिवाद का अर्थ है न इति, न इति। आत्मा यह भी नहीं है वह भी नहीं है। **'अथात आदेशो नेति नेति'** यह बृहदारणयक उपनिषद का प्रसिद्ध सूत्र है। ब्रह्मा की तरह आत्मा का स्वरूप भी नेतिवाद की भाषा में बतलाया गया है।

आत्मा दीर्घ—लम्बा नहीं है। ह्रस्व नहीं है, वृत्त—गोल नहीं है। परिमण्डल—वलयाकर नहीं है, त्रिकोण, चतुष्कोण भी नहीं है। उसका कोई संस्थान नहीं है, आकार नहीं है।

वह न कृष्ण है, न नील है, न रक्त है, न पीत है न श्वेत है। वह न सुगंध है, न दुर्गन्ध है। वह न रिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है, न मधुर है। वह न कठोर है, न मृदु है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है।

वह वर्णातीत, रसातीत, गंधातीत और स्पर्शातीत है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान— ये पुद्गल के लक्षण हैं। आत्मा पुद्गल नहीं है। जो दृश्य जगत है, वह पुद्गल है। आत्मा अदृश्य है। जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह पुद्गल है। मुक्त आत्मा पुद्गल से सर्वथा पृथक् है। इस निरूपण के द्वारा अदृश्यवाद को दृश्यवाद का निषेध कर प्रस्थापित किया गया है।

मुक्त आत्मा शरीर युक्त नहीं है। वह जन्मधर्मा नहीं है। उसके किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। संसारी आत्मा के बंध निरन्तर होता रहता है, कर्म पुद्गल चिपकते रहते हैं। मुक्त आत्मा विशुद्ध और निर्लेप होती है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसंक।

यह भी नहीं है, यह भी नहीं है, आखिर आत्मा है क्या? उसका धर्म क्या है? स्वरूप क्या है? उसका कार्य क्या है? इस संदर्भ में उसकी विधायक परिभाषा करते हुए कहा गया—मुक्त आत्मा केवल ज्ञाता है। वह सर्वत: चैतन्यमय है।

ज्ञातृभाव और चैतन्य दोनों अदृश्य हैं, उन्हें कैसे देखा जा सकता है? आत्मा का निषेधात्मक स्वरूप भी अज्ञेय है, विधायक स्वरूप भी ज्ञेय नहीं है। फिर उसे जानने का साधन क्या है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रश्न को समाहित करने के लिए आयारों में एक महत्वपूर्ण सूत्र दिया गया है। **'उवमा ण विज्जई'** आत्मा को बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। उपमा के बिना कैसे उसे बताया जा सकता है?

न्यायशास्त्र में दो प्रकार की व्याप्तियां हैं-बहिर्व्याप्ति, अन्तर व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, वह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा में चैतन्य गुण है इसलिए वह है। इसकी व्याप्ति है— 'जहां जहां चैतन्य है, वहां वहां आत्मा है।' यह व्याप्ति समग्र विषय को अपने आपमें समेट लेती है। इसका कोई अन्य समानधर्मा नहीं है इसलिए इसके लिए कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

बहिर्व्याप्ति में विषय के सिवाय भी साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिलती है। जैसे— 'जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है' इसका दृष्टान्त बन सकता है रसोई घर। वे सारे स्थान इसे सिद्ध करने में सहायक हैं जहां अग्नि जलती है।

आकाश अनन्त है। वह अपने विषय को स्वयं में समग्रता से समेटे हुए है। उसके समान कोई तत्त्व नहीं हैं जिससे उसे बताया जा सके। आकाश की भान्ति आत्मा को किसी भी उपमा से उपमित नहीं किया जा सकता। आत्मा एक अमूर्त सत्ता है इसलिए वह दृष्टि का विषय भी नहीं है।

आत्मा अपद है। उसके लिए कोई पद नहीं है। **'अपयस्स पयं णत्थि'** यह नियम सब पदार्थों पर लागू होता है। इसका कोई अपवाद नहीं है। इससे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध फलित होता है।

दर्शन शास्त्र में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विषय बहुत विवादास्पद रहा है। बौद्ध दर्शन शब्द और अर्थ में एकान्त भेद स्वीकार करता है। वेदान्त प्रणव-ओंकार को ईश्वर का वाचक शब्द मानता है। उसके अनुसार ओंकार प्रथम शब्द है, उससे ही नाद का विस्तार हुआ है। शब्द-ब्रह्म की मान्यता का इसी परिप्रेक्ष्य में जन्म हुआ है।

जैन दर्शन शब्द और अर्थ में भेदाभेद मानता है। आत्मा पदातीत है, उसके लिए कोई पद नहीं है। जैन दर्शन कहता है—आत्मा है पर यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा शब्द भी आरोपित है। प्रत्येक पदार्थ शब्दातीत है। शब्द आत्मा या किसी भी पदार्थ का पर्याय नहीं हो सकता। आत्मा है, यह है, वह है—ये सब हमारे द्वारा आरोपित हैं।

जैन दर्शन इस बात को भी स्वीकार नहीं करता है कि सृष्टि का सारा विस्तार शब्द से हुआ है। आत्मा के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अज्ञेय, अदृश्य और अरूपी सत्ता है। शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कोई भी उसका पर्याय नहीं है, वाचक नहीं है, स्वरूप नहीं है। वह निरुपमेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव : स्वरूप और लक्षण

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसमें जीव और अजीव दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है—न अजीव से जीव उत्पन्न होता है और न जीव से अजीव। दोनों अनादि अनन्त द्रव्य हैं; दोनों के बीच एक शाश्वत भेदरेखा है—चैतन्य। जीव में चैतन्य होता है, अजीव में नहीं। यह चैतन्य ही जीव की स्वतन्त्र सत्ता का हेतु है।

जगत में दो प्रकार के तत्त्व हैं—अमूर्त और मूर्त। द्रव्य का मूर्तीकरण वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और आकार के द्वारा होता है। परमाणु पुद्गल में ये सभी होते हैं, इसलिए वह मूर्त द्रव्य है। जीव में वर्ण आदि नहीं है, इसलिए वह अमूर्त द्रव्य है।

अमूर्त द्रव्य अदृश्य होता है। जो मूर्त होता है वह सब दृश्य नहीं होता, किन्तु जो दृश्य होता है वह मूर्त होता है। सूक्ष्म परिणति वाला मूर्त द्रव्य दृश्य नहीं होता। दृश्य वही होता है, जिसकी परिणति स्थूल हो जाती है। जीव अमूर्त द्रव्य है, इसलिए वह इन्द्रिय द्वारा दृश्य नहीं है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा गम्य भी वह नहीं है। उसका गुण है चैतन्य। वह भी अदृश्य है। वह कार्य के द्वारा जाना जा सकता है; किन्तु इन्द्रिय द्वारा उसका बोध नहीं होता। जीव के अस्तित्व की अस्वीकृति का सबसे बड़ा हेतु है—उसकी अमूर्तता। भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—जैसे अरणी में अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी, तिलों से तेल, वैसे ही शरीर से जीव उत्पन्न होता है। इसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि वह स्वतन्त्र होता तो जीव हमारे सामने प्रत्यक्ष होता। इस तर्क के उत्तर में पुत्र बोले—पिता! वह हमारी इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है, इसका कारण उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तित्व का न होना नहीं है, किन्तु इसका कारण है उसकी अमूर्तता।

चैतन्य : एक सूर्य

जीव स्व-परप्रकाशी है। उसमें अपने आपको और वस्तु जगत—दोनों को जानने की क्षमता है। उसका चैतन्य साधारणतया आवृत-अनावृत अवस्था में रहता है। चैतन्य एक सूर्य है। वह आवरण के बादलों से ढंक जाने पर भी सर्वथा आच्छन्न नहीं होता। आकाश में बादलों का घटाटोप है, सूर्य उससे ढंका हुआ है, फिर भी दिन और रात का विभाग बना रहता है। जीव में विद्यमान ज्ञानरूपी चैतन्य आवरण से पूर्ण आवृत कभी नहीं रहता। उसमें चैतन्य-विकास की कुछ रश्मियां निरन्तर प्रकट रहती हैं। यदि वे प्रकट न हों तो जीव और अजीव में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती।

आवृत-अनावृत चैतन्य में जानने की क्रिया निरन्तर नहीं होती; इसलिए जीव जब जानने का प्रयत्न करता है तब उसका ज्ञान केवल अस्तित्व में रहता है। इस आधार पर जीव की अनुपयोग और उपयोग, इन दो अवस्थाओं का निर्माण होता है—

आवृत-अनावृत चैतन्य= अनुपयोग; ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता।

आवृत-अनावृत चैतन्य= उपयोग; ज्ञेय का ज्ञान होता है।

विकास का अन्तिम बिन्दु उपलब्ध होने पर, ज्ञान के आवरण का सर्वथा विलय हो जाने पर चैतन्य अनावृत हो जाता है। उस अवस्था में चैतन्य का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

अनावृत चैतन्य-सतत उपयोग = ज्ञेय का सतत बोध।

जीव : अनादि-अनन्त

जीव अनादि और अनन्त है। वह अकृत और अनुत्पन्न है, इसलिए अनादि है। वह अकृत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। चैतन्य उसका मौलिक गुण या स्वरूप है; इसलिए वह भी अनादि-अनन्त है। अनेकान्त की दृष्टि से प्रत्येक अस्तित्व त्रिरूप होता है। उत्पाद, व्यय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रौव्य—तीनों समन्वित रूप में द्रव्य के लछण हैं। ध्रौव्य द्रव्य का शाश्वत स्वरूप है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों उसके अशाश्वत रूप हैं। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से वह शाश्वत है। उसका रूपान्तरण होता रहता है, इस अपेक्षा से वह अशाश्वत है। चैतन्य शाश्वत है। आवरण उसका अशाश्वत भाव है। वह पौद्गलिक है, जीव का स्वभाव नहीं है। वह प्रवाह के रूप में आता है और अपनी अवधि पूर्ण कर चला जाता है। उचित उपाय के द्वारा उसका अन्त भी किया जा सकता है। इसे दो रूपों में देखा जा सकता है—

ज्ञान का आवरण, अनादि-अनन्त (उचित उपाय के अभाव में)
ज्ञान का आवरण, अनादि सान्त (उचित उपाय के होने पर)

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव में पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं हो सकती। आंशिक अनावरण प्रत्येक जीव में विकसित होता है।

जीव और शरीर

प्रत्येक संसारी जीव के सामान्यतया तीन शरीर होते हैं:

(१) औदारिक शरीर (स्थूल शरीर);
(२) तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर);
(३) कर्म शरीर (सूक्ष्मतर शरीर)।

औदारिक शरीर का जीवन के आरम्भ में निर्माण होता है और जीवन की समाप्ति के साथ उसका वियोग हो जाता है। वह कर्म-शरीर का संवादी शरीर होता है। कर्म-शरीर में चेतना के विकास और अवरोध के जितने केन्द्र होते हैं, वे सब के सब औदारिक शरीर में बन जाते हैं। कर्म शरीर से आने वाले स्पन्दन औदारिक शरीर के केन्द्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। वे व्यक्ति के दृष्टिकोण, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।

तैजस और कर्म शरीर जीव के साथ निरन्तर जुड़े रहते हैं। मृत्यु के पश्चात और पनर्जन्म से पर्व जो गति होती है उसे अन्तराल गति कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। उस गति में भी वे जीव के साथ रहते हैं, इसलिए उसके स्थूल शरीर का पुनर्निर्माण या पुनर्जन्म होता है।

वैक्रिय और आहारक— ये दोनों शरीर लब्धि या योगज विभूति से उत्पन्न होते हैं। वैक्रिय शरीर के द्वारा नाना रूपों का निर्माण किया जा सकता है। आहारक शरीर के द्वारा विचारों का संप्रेषण किया जा सकता है। कुछ जीवों के वैक्रिय शरीर जन्मगत भी होता है।

प्राण : एक सेतु

जीव और शरीर के बीच प्राण एक सेतु है। शरीर, वचन और मन का उपयोग प्राणशक्ति के द्वारा ही किया जाता है। एक ही प्राणशक्ति कार्य-भेद से दस भागों में विभक्त हो जाती है—

१. स्पर्शन इन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (स्पर्शनेन्द्रिय प्राण)।
२. रसनेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (रसनेन्द्रिय प्राण)।
३. घ्राणेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (घ्राणेन्द्रिय प्राण)।
४. चक्षुरिन्द्रिय को संचालति करने वाली प्राणशक्ति (चक्षु-इन्द्रिय प्राण)
५. श्रोत्रेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्रोत्रेन्द्रिय प्राण)।
६. शरीर को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (शरीर प्राण)।
७. श्वासोच्छ्वास को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्वासोच्छ्वास प्राण)।
८. वाणी को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (भाषा प्राण)।
९. मन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (मन:प्राण)।
१०. जीवन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (आयुष्य प्राण)।

जीवन की सारी प्रवृत्तियां इस प्राण-ऊर्जा के द्वारा सक्रिय होती हैं। इसके आधार पर जीवन और मृत्यु की परिभाषा बनती है। प्राणशक्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना जीवन है और प्राणशक्ति का चुक जाना मृत्यु।

जीव और काय

शरीर-रचना के आधार पर जीव छह भागों में विभाजित होता है—

१.पृथ्वीकाय, २.अप्काय, ३.तैजसकाय, ४.वायुकाय, ५.वनस्पतिकाय, ६.त्रसकाय।

साधारणतया त्रसकाय को गतिशीलता के आधार पर जीव माना जाता है। वनस्पति को भी कुछ लोग जीव मानते हैं। जैन दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना गया है। जैन दर्शन का सिद्धान्त है कि दृश्य या स्थूल जगत जीवों के द्वारा निर्मित होता है। जितना दृश्य जगत है वह या तो जीवयुक्त शरीर है या जीवमुक्त शरीर। ऐसा कोई भी तत्त्व दृश्य नहीं है जो जीव के शरीर के रूप में परिणत न हुआ हो।

जीव के इन छह कायों में वनस्पतिकाय जीवों का अक्षय कोष है। केवल इसी काय में अनन्त जीव होते हैं। विकास की प्रक्रिया के अनुसार जीव वनस्पति से निकल कर आगे की यात्रा तय करता है।

जीव और आत्मा

'भगवती सूत्र' में जीव के तेईस पर्यायवाची नाम दिए है; १.जीव, २. जीवास्तिकाय, ३. प्राण, ४. भूत. ५.सत्त्व, ६.विज्ञ, ७.वेदक, ८. चेतस्, ९. जेता, १०. आत्मा, ११. रंगण, १२. हिण्डुक, १३. पुद्गल, १४. मानव, १५. कर्ता, १६. विकर्ता, १७. जय, १८. जन्तु. १९. योनि, २०. स्वयंभू, २१. सशरीर, २२. ज्ञायक, २३. अन्तरात्मा।

(भगवती २०/१७)

शाब्दिक दृष्टि से जीव का अर्थ होता है प्राण-धारण करने वाला और आत्मा का अर्थ होता है चेतना की विविध अवस्थाओं का अनुभव करने वाला; किन्तु स्थूल व्यवहार में इन्हें एकार्थक कहा जा सकता है।

जीव दो प्रकार के होते हैं: बद्ध—कर्म शरीर से बंधा हुआ; मुक्त—कर्म-शरीर से पृथग्भूत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बद्ध और मुक्त

जीव जब बद्ध अवस्था में होता है तब पुनर्जन्म का चक्र आगे-से-आगे बढ़ता रहता है। बद्ध अवस्था कर्म, वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित अवस्था है; इसलिए उसका स्वरूप बदलता रहता है, उसकी गति बदलती रहती है। वह कभी मनुष्य हो जाता है, कभी पशु, कभी नरक और कभी देव। उसकी जाति भी बदलती रहती है। कभी चतुरिन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय या एकेन्द्रिय। उसके उत्क्रमण और अपक्रमण दोनों होते रहते हैं। विकास के बाद अविकसित अवस्था में जाने का नियम चेतना की स्वतन्त्रता का नियम है। विकास और अविकास दोनों सापेक्ष हैं। कषाय की स्थिति में ये दोनों घटित होते हैं; इसलिए चेतन जगत के नियमों को समझना सहज/सरल नहीं है। ये अचेतन जगत की भान्ति स्थिर नियम नहीं हैं। आन्तरिक विकास और अविकास के साथ-साथ वे बदलते रहते हैं। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण जीव का रूप भी बदलता रहता है। मुक्त आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का वास्तविक स्वरूप वह है जो मुक्त आत्मा में विकसित है। मुक्त आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति—ये सब अनन्त हो जाते हैं। उनकी अनन्तता ही जीव का वास्तविक स्वरूप है।

दोहरा व्यक्तित्व

मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की दो परतें होती हैं। कभी एक प्रकार का व्यक्तित्व काम करता है तो कभी दूसरे प्रकार का। जैन दर्शन के अनुसार जिसमें पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं है उसमें दोहरा व्यक्तित्व होता है। इसका हेतु यह है कि जीव में कर्म-पुद्गल की सक्रियता और निष्क्रियता दोनों विद्यमान रहती हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म की सक्रियता को औदयिक व्यक्तित्व और उसकी निष्क्रियता को क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है।

औदयिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं: १. जानने और देखने की अक्षमता। २. मूर्च्छा का अनुभव—आवेग, भय और काम-वासना का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव। ३. सामर्थ्यहीनता का अनुभव। ४. सुख-दुःख का अनुभव। ५. उच्चता-नीचता का अनुभव। ५. शुभ-अशुभ का अनुभव। ७. जीवन-मृत्यु का अनुभव।

क्षायोपशमिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं: १. जानने-देखने की क्षमता का अनुभव। २. अमूर्च्छा का अनुभव—आवेग-शून्यता, अभय, काम-वासना-मुक्ति और आनन्द का अनुभव। ३. सामर्थ्य का अनुभव। ४. संवेदन-मुक्ति का अनुभव।

व्यक्तित्व की ये दोनों परतें हर व्यक्ति के मस्तिष्क में होती हैं। अपने चैतन्यमय स्वरूप के प्रति जागरूकता के क्षण में क्षायोपशमिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है। मूर्च्छा के क्षण में औदयिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है। इन दोनों के प्रभाव से दोहरा व्यक्तित्व बनता है। यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु अनावरण की अवस्था के विकास से पूर्व उसका यही रूप उपलब्ध होता है। चैतन्य का अनावरण होने पर यह दोहरा व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। इसे क्षायिक व्यक्तित्व कहते हैं।

सशरीर और अशरीर

जीव संसार में रहता है। वह शरीर में रहता है और उसका फैलाव भी शरीर जितना ही होता है, इसलिए उसे (जीव को) देह-परिमाण कहा गया है। वह न तो शरीर के किसी हिस्से में केन्द्रित है और न पूरे लोक में व्याप्त है, किन्तु वह पूरे शरीर (नाड़ी-संस्थान) में व्याप्त है। मुक्ति के प्रथम क्षण में वह अशरीर हो जाता है। उस अवस्था में भी वह पूरे लोक में व्याप्त नहीं होता, किन्तु जिस शरीर से मुक्त होता है उसी के त्रिभागहीन क्षेत्र में वह व्याप्त हो जाता है।

यह अशरीर अवस्था जीव की सर्वथा पुद्गलमुक्त या अचैतन्य-वियुक्त अवस्था है। इस अवस्था के उपलब्ध होने पर जीव फिर कभी पुद्गल से युक्त नहीं होता, उससे प्रभावित होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव-शरीर सम्बन्धवाद

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा--भगवन्! जीव पुद्गल है या पुद्गली?

भगवान ने कहा—जीव पुद्गल भी है, पुद्गली भी है।

गौतम—यह किस अपेक्षा से प्रतिपादित किया जा रहा है?

भगवान—जिसके पास छत्र होता है, उसे छत्री कहा जाता है। जिस के पास दंड होता है वह दंडी कहलाता है। इसी प्रकार जीव पांच इन्द्रियों की अपेक्षा से पुद्गली है और जीव की अपेक्षा से पुद्गल है।

प्राचीन साहित्य में पुद्गल शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। पुद्गल का एक अर्थ होता है पिण्ड। पिण्डाकार पदार्थ के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग होता है। अनेक प्राचीन ग्रंथों में आत्मा के लिए अधिकांशतया पुद्गल शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में प्रायः स्थलों पर पुद्गल आत्मा का द्योतक शब्द है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी 'उत्तम पोग्गले' उत्तम पुद्गल का आत्मा के अर्थ में उल्लेख मिलता है। भगवती सूत्र में भी जीव का पर्यावाची नाम पुद्गल है। पुद्गल का एक अर्थ है-अचेतन द्रव्य। पुद्गल परमाणु का वाचक भी है। जहां परमाणु के प्रसंग में पुद्गल शब्द आता है, वहां पुद्गली शब्द जीव बन जाएगा।

जीव और पुद्गल में सम्बन्ध क्या है? चेतन और अचेतन में सम्बन्ध क्या है? जो अनुसंचरण करने वाला जीव है वह पुद्गल के साथ घुलामिला है। इसलिए चेतन और अचेतन सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं।

जीव की पहचान का मुख्य साधन है—पांच इन्द्रियां। वह इन्द्रियों के सहारे जाना जाता है। इसके अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला तत्त्व है। पांच इन्द्रियों में भी स्पर्शन इन्द्रिय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह सबसे बड़ी है और सारे शरीर में व्याप्त है। अन्य सब इन्द्रियों के अपने-अपने नियत स्थान हैं। शरीर की पूरी सरंचना पांच इन्द्रियों में समा जाती है। इसी दृष्टि से कहा गया कि पांच इन्द्रियों की अपेक्षा से जीव पुद्गली है। ये संसारी अनुसंचरणशील जीव को पहचानने का प्रमुख माध्यम हैं।

मुक्त जीव पुद्गल है, पुद्गली नहीं है। सिद्ध एक द्रव्य है, इस दृष्टि से पुद्गल है। उनके इन्द्रियां नहीं है, शरीर नहीं है इसलिए उन्हें पुद्गली नहीं कहा जा सकता।

जीव अजीव नहीं बनता और अजीव जीव में परिणत नहीं होता। अजीव-प्रतिष्ठित जीव ही हमें दिखाई देता है। केवल जीव को स्थूल दृष्टि से देखना सम्भव नहीं है। जीव के व्यक्त होने का माध्यम है अजीव/पुद्गल।

भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है—तज्जीव तच्छशरीरवाद। वही जीव है, वही शरीर है तो उनमें सम्बन्ध खोजने की कोई अपेक्षा नहीं है। राजप्रश्नीय सूत्र तथा सूत्रकृतांग सूत्र में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। अद्वैतवादी दार्शनिक जीव और शरीर को एक मानते हैं इसलिए उनमें सम्बन्ध क्या है? यह प्रश्न उनके सामने नहीं है।

द्वैतवादी जीव और शरीर को अलग-अलग मानते हैं। उनके सामने यह प्रश्न है कि यदि जीव और शरीर पृथक् हैं तो उनमें क्या सम्बन्ध है? उनमें सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है? उनका सम्बन्ध-सूत्र क्या है?

जैन दर्शन ने जीव और शरीर में सम्बन्ध को प्रस्थापित किया है। यदि इन दोनों को सर्वथा पृथक मानें तो इन दोनों को ही व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। हमारे सारे आवरण और व्यवहार की व्याख्या भी जीव और शरीर के सम्बन्धों पर आधारित है।

भगवती में इनके सम्बन्ध सूत्र को विवेचित करते हुए कहा गया—जीव और पुद्गल (शरीर) एक दूसरे से बंधे हुए हैं, एक दूसरे को छू रहे हैं, एक दूसरे का अवगाहन कर रहे हैं, एक दूसरे के आधार पर ठहरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए हैं, परस्पर स्नेह से प्रतिबद्ध हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में कुछ शब्द विमर्शनीय हैं—

'ओगाढा' अवगाढ शब्द अवगाहन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अवगाढ़ का अर्थ है— परस्परेण लोलीभावं गता, जीव और शरीर में परस्पर लोलीभाव सम्बन्ध है। सम्बन्ध अनेक प्रकार से होता है। सुई में धागा पिरोया, धागे से अनेक कागजों को जोड़ा गया। उनमें एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। किन्तु उसे लोलीभाव सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

लोलीभाव सम्बन्ध में दो पदार्थ एकमेक हो जाते हैं। लोहे को अग्नि में गर्म किया गया। उसका वर्ण रक्तिम हो उठा। उस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि यह लोहा है या आग है। लोहा और आग अन्योन्यवेध हो जाते हैं, एक दूसरे के भीतर अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में उन दोनों की एकात्मता को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत प्रसंग में यही अर्थ अधिक संगत है।

सिणेह–स्नेह शब्द के अनेक अर्थ हैं। स्निग्ध का प्रचलित अर्थ है— 'चिकनाई। **'स्निग्धरूक्षत्वाद्'** यहां स्निग्ध का अर्थ चिकनाई नहीं है। यहां स्निग्ध का अर्थ है—विधायक शक्ति/पोजिटिव और रूक्ष का अर्थ है—निषेधात्मक शक्ति/नेगेटिव, यह अर्थ सामान्यतः पकड़ा नहीं गया।

ब्रिटेनिका इनसाइक्लोपीडिया में इसी अर्थ को सही माना गया है। इन दो शक्तियों से विद्युत पैदा होती है। इसका सर्वप्रथम ज्ञान हिन्दुओं को था। इस तथ्य की पुष्टि के लिए उसमें तत्वार्थ सूत्र का सूत्र उद्धृत किया गया है।

मूलतः स्निग्ध और रूक्ष दार्शनिक शब्द हैं। इन दार्शनिक शब्दों का चालू अर्थ कर दिया गया। इनका दार्शनिक अर्थ है–धन शक्ति और ऋण शक्ति। जीव और पुद्गल में ऐसी शक्ति है, जिससे वे परस्पर जुड़ सकते हैं।

जीव में धनात्मक शक्ति है। अजीव में ऋणात्मक शक्ति है। इन दोनों के मिलने की प्रायोग्यता, सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता स्नेह है।

टीकाकार ने इसका अर्थ किया है— 'स्नेहप्रतिबद्धा रागादिरूपः स्नेह। यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। जीव में राग होता है, स्नेह होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है किन्तु पुद्गल में राग नहीं है। इसलिए सिणेह का अर्थ स्नेह वाला नहीं होना चाहिए।

घडत्ताए—घडत्ताए का एक अर्थ है-आधार। इसका प्रयोग रचना अर्थ में भी होता है। घट समूह का वाचक शब्द भी है—जैसे मेघ घटा/ बादलों का समूह।

जीव और पुद्गल शरीर के सम्बन्ध में गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्नों को समाहित करने के लिए भगवान महावीर ने एक सुन्दर उपमा को भी प्रस्तुत किया है। एक तालाब पानी से पूरा भरा हुआ है। उसमें जल समा नहीं रहा है। जल का दबाव और भराव निरन्तर बढ़ रहा है। उसमें से पानी निरन्तर आ रहा है, निकल रहा है। पानी के उस अथाह प्रवाह में एक व्यक्ति ने अपनी नौका को खड़ा किया। वह नौका सैकडों छेदों वाली है।

आस्रव और छिद्र पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु छिद्र का अर्थ है—बड़ा छेद और आस्रव का अर्थ छोटा छिद्र भी हो सकता है।

छेदों में पानी प्रविष्ट होता है। धीरे-धीरे पूरी नौका पानी से भर जाती है जलमय बन जाती है। इस दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा—जीव में छिद्र है आस्रव और पुद्गल की प्रकृति है छिद्र में भर जाना, प्रविष्ट हो जाना। जीव में स्नेह है आस्रव और पुद्गल में आकर्षित होने की क्षमता। दोनों स्नेह से बंधे हुए हैं।

डेकार्टे, स्पिनोजा लाइबनिटस आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने एक प्रश्न खड़ा किया—शरीर और मन का सम्बन्ध क्या है? मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी यह प्रश्न चर्चित हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में मन का तात्पर्य जीव से है। जीव शरीर को प्रभावित कर रहा है और शरीर जीव को प्रभावित कर रहा है। हमारे आचरण और व्यवहार की व्याख्या का आधार भी यही है। इसीलिए इनके पारस्परिक सम्बन्ध को नकारा नहीं जा सकता।

यदि हम जीव और शरीर को सम्बन्धातीत मान लें तो सिद्धों की व्याख्या हो सकती है। किन्तु शरीरधारी प्राणी को व्याख्यात नहीं किया जा सकता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेडिकल साईंस का भी यह महत्वपूर्ण विषय है—यदि मस्तिष्क दुर्बल है तो मानसिक शक्ति भी कमजोर होगी। कोई मानसिक आघात लगा, हृदय की बीमारी हो गई। नंदी सूत्र में कहा गया— भाव शरीर की बीमारियों को पैदा करता है। लीवर खराब होने से व्यक्ति चिड़चिड़ा बन जाता है। लीवर खराब है तो भाव प्रभावित हो जाएगा और भाव स्वस्थ नहीं है तो लीवर अप्रभावित नहीं रह पाएगा। दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जीव को समग्र दृष्टि से देखें तो दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी इसकी चर्चा समानरूप से उपयोगी है। जिसका फलित है— जीव और शरीर, भाव और शरीर, मन और शरीर परस्पर जुड़े हुए हैं, पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से गुंथे हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव-पुद्गल : भोक्तृ-भोग्यसंबंधवाद

दो तत्त्व हैं जीव और पुद्गल। दोनों में भोक्ता कौन? जीव अजीव का भोग करता है या अजीव जीव का भोग करता है? सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है। प्रकृति अचेतन है। अचेतन तत्त्व अपने कार्य का उपयोग नहीं कर सकता। उसका उपभोग करने के लिए कोई चेतन तत्त्व चाहिए। सुख-दुःख संताप आदि का जनक प्रकृति है पर उसका भोक्ता पुरुष है। शरीर में चोट लगने पर कष्ट होता है। शरीर कष्ट का उत्पादक तत्त्व है।

भगवान महावीर से पूछा गया—क्या जीव द्रव्य के परिभोग में अजीव द्रव्य आते हैं या अजीव द्रव्य जीव द्रव्य का परिभोग करता है?

भगवान ने कहा—जीव द्रव्य अजीव द्रव्य का परिभोग करता है। अजीव जीव का भोग नहीं कर सकता। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा—जीव द्रव्य पहले अजीव द्रव्य का ग्रहण करता है। ग्रहण के पश्चात वह उसका औदारिक आदि पांच शरीरों के रूप में, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों के रूप में, मन, वचन, काया एवं श्वासोच्छ्वास के रूप में भोग करता है।

अजीव भोक्ता नहीं होता, भोक्ता जीव ही होता है। 'जीव द्रव्याणि परिभोजकानि अचेतनत्वेन ग्राहकत्वात् इतराणि तु परिभोग्यानि अचेतनया ग्राह्यत्वात्' जीव द्रव्य में सचेतनता है, ग्रहण की क्षमता है इसलिए वह भोक्ता है। सचेतन होने के कारण जीव यह जानता है कि कौन सा द्रव्य कब किस तरह काम में आएगा। उसमें पुद्गलों के ग्रहण की क्षमता है। ग्रहण क्षमता वाला ही भोक्ता हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल अचेतन है उसे यह ज्ञान नहीं होता है कि कौन सा द्रव्य कब काम में लेना चाहिए। उसमें ग्रहण क्षमता भी नहीं है। इसलिए वह परिभोग्य है, भोक्ता नहीं है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति अचेतन होने से भोग्य है। पुरुष सचेतन होने के कारण भोजक है। उसमें ग्राह्यता का हेतु नहीं है क्योंकि वह पुरुष को ग्राहक नहीं मानता। सांख्य प्रकृति को सक्रिय तथा पुरुष को निष्क्रिय मानता है। जबकि जैन दर्शन मूर्त आत्मा को भी सक्रिय मानता है। जैन एवं सांख्य की मान्यता में यह एक मौलिक अन्तर है। परिभोग्य एवं परिभोक्ता के संदर्भ में इन दोनों के मत में समानता है पर कारणों में भिन्नता है।

भोक्तृत्व की प्रक्रिया है—ग्रहण, परिणमन और उत्सर्ग। सर्वप्रथम हम पुद्गलों का ग्रहण करते हैं फिर उन्हें तद्रूप में परिणत करते हैं। यदि हमने भाषा वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण किया है तो भाषा के रूप में उनका परिणमन होगा। यदि हमने मनोवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण किया है तो मन रूप में उनका परिणमन होगा। जब तक ग्रहण किए हुए पुद्गलों का तद्रूप में परिणमन नहीं होता तब तक वे हमारे लिए उपयोगी नहीं बन सकते। ग्रहण के समय जो पुद्गल होते हैं वे भाषा या मन के प्रायोग्य होते हैं। परिणमन होने पर वे मन या भाषा के पुद्गल बन जाते हैं। उसके बाद जो विसर्जन का काल है वही वस्तुतः भाषा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जीव में सचेतनत्व और ग्राहकत्व ये दो क्षमताएं है। पुद्गल में अचेतनत्व और ग्राह्यत्व ये दो अर्हताएं हैं। इन दोनों के योग से जीव और पुद्गल में भोग्य भोजक का सम्बन्ध निर्मित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तामूर्तवाद

जीव अमूर्त है, शरीर मूर्त है। क्या अमूर्त और मूर्त में सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? क्या अमूर्त पदार्थ मूर्त को प्रभावित कर सकता है? क्या मूर्त से अमूर्त प्रभावित होता है? दार्शनिक क्षेत्र में ये प्रश्न चर्चित होते रहे हैं। भगवती सूत्र में इन प्रश्नों के समाधान उपलब्ध होते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! क्या महान ऐश्वर्यवाला महर्षि देव पहले रूपी होकर अरूपी तत्व का निर्माण करता है?

भगवान ने कहा—नहीं?

गौतम—देवता में रूप निर्माण की क्षमता है। वह मन इच्छित रूप बना सकता है। वह अरूपी रूप क्यों नहीं बना सकता?

भगवान—मैंने यह देखा है, जाना है, बोध किया है। जो सरूप जीव है, वह अरूप तत्त्व का निर्माता नहीं बन सकता।

जीव का एक स्वरूप है सरूपता। जीव केवल अरूप नहीं है। सांख्यदर्शन जीव को नितान्त अमूर्त मानता है। इसलिए उसने सारा भार प्रकृति पर लाद दिया। जैन दर्शन जीव को सर्वथा अमूर्त नहीं मानता। उसके अनुसार जीव मूर्त भी है, अमूर्त भी है।

जीव मूर्त क्यों है? कर्म, राग, वेद, मोह, लेश्या और शरीर—इन सबके कारण जीव मूर्त है। ये सब जीव के साथ अत्यन्त सघनता से जुड़े हुए हैं। जीव वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला है। पुद्गल का लक्षण है वर्ण, गंध, रस और स्पर्श।

यह अनेकान्त का महत्वपूर्ण सूत्र है। जैन दर्शन के सिवाय अन्य कोई दर्शन जीव में स्पर्श आदि की विद्यमानता को स्वीकार नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सृष्टि में जीव और पुद्गल के कुछ गुण समान हैं। यही कारण है कि जीव पुद्गल को और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध का भी यह एक आधार है।

लेश्या ध्यान में रंगों का प्रभाव होता है। हमारे जीव में भी रंग हैं। चैतन्य केन्द्रों के रंग भी होते हैं। आत्म प्रदेशों के साथ भी रंग घुले मिले हैं और वे रंग हमें प्रभावित करते हैं।

जीव और पुद्गल में अभेद भी है, भेद भी है और उनका एक दूसरे पर प्रभाव भी है।

अरूप जीव भी सरूप का निर्माण नहीं कर सकता। अकर्मा, अरागी, अवेदी, अशरीरी जीव सर्वथा अमूर्त होता है। जीव की एक अवस्था है—सरूपावस्था और दूसरी है—अरूपावस्था। शरीरधारी जीव सरूपावस्था में रहता है और शरीरमुक्त जीव अरूपावस्था में रहता है। जीव सरूप भी है, अरूप भी है। अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे रहता है? मूर्त और अमूर्त में सम्बन्ध कैसे हैं? ये प्रश्न इन दो अवस्थाओं के विवेचन से स्वतः समाहित हो जाते हैं।

सरूप अरूप बन सकता है। सरूप अरूप कैसे बनता है? यह एक अलग प्रश्न है। सरूप से अरूप होने की एक प्रक्रिया है वह है, संवर और निर्जरा की प्रक्रिया।

मनोविज्ञान के सामने भी यह जटिल समस्या है कि शरीर और मन दोनों भिन्न हैं। इनमें सम्बन्ध कैसे होता है? ये एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं? इस समस्या का समाधान तब तक नहीं होगा जब तक हम दोनों को एकान्ततः भिन्न या अभिन्न मानेंगे। इसका समाधान अनेकान्त के द्वारा पाया जा सकता है। अनेकान्त का समाधान सूत्र है—जीव मूर्तामूर्त है। स्वरूप की दृष्टि से वह अमूर्त है पर बद्धावस्था में वह वस्तुतः मूर्त ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव चैतन्य सम्बन्धवाद

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—जीवे णं भंते! जीवे? जीवे जीवे?

भगवान ने कहा— 'गोयम! जीवे ताव नियमा जीवे जीवे वि नियमा जीवे।

प्रश्न भी पहेली, उत्तर भी पहेली। आगमों में अनेक स्थलों पर प्रहेलिका प्रणाली द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। इन दो रहस्यमय प्रश्नों को एक वाक्य में कहा जा सकता है— क्या जीव जीव है? इसका उत्तर भी एक वाक्य में दिया गया है—जीव नियमत: जीव है।

भगवती टीकाकार ने इस प्रहेलिका को प्रशस्य ढंग से सुलझाया है। प्रस्तुत प्रसंग में एक जीव शब्द के द्वारा जीव का ग्रहण है, दूसरे के द्वारा चैतन्य का। एक द्रव्य का ग्राहक है, दूसरा गुण का। जीव शब्द का प्रयोग जीव द्रव्य के लिए भी हुआ है, चैतन्य गुण के लिए भी हुआ है।

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिकों के विभिन्न मत सामने आए हैं। द्रव्य और गुण अभिन्न हैं या भिन्न? दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों के समाधान में अनेक विचार प्रस्फुटित हुए हैं।

कुछ दार्शनिक मानते हैं—द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हैं। नैयायिक वैशेषिक द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। उनका कथन है— द्रव्य और गुण में समवाय के द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है। ये विचार जीव और चेतना में एकान्तत: अभेद या भेद को व्यक्त करने वाले हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इनको उद्धृत करते हुए लिखा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतोऽनुवृत्ति व्यतिवृत्तिभाजो भावानभावान्तरनेयरूपाः
परात्मतत्वादतथात्मतत्वाद् द्वयं वदन्तो कुशलाःस्खलन्ति।

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्यविशेषात्मक है। उसके इस स्वभाव को जानने के लिए किसी अन्य पदार्थ की कल्पना आवश्यक नहीं है। कुछ सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद की कल्पना करते हैं और कुछ सामान्य विशेष में अभेद को प्ररूपित करते हैं। एकान्त दृष्टि से इस प्रकार का कथन करने वाले अकुशल व्यक्ति अपने पथ से स्खलित होते हैं।

जैन दर्शन ने जीव और चैतन्य में अविनाभावी सम्बन्ध माना है। जीव के बिना चैतन्य नहीं है और चैतन्य के बिना जीव का अस्तित्व नहीं है। एक के बिना दूसरा नहीं होता। एक द्रव्य है दूसरा गुण है। एक द्रव्य है, दूसरा उसका पर्याय है। उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिता।
क्व कदा केन किं रूपात्, दृष्टा मानेन केन वा।

द्रव्य और पर्याय को एक दूसरे से पृथक् कब देखा है? कहां देखा है? कैसे देखा है? किसने किस रूप में देखा है।

जैन दर्शन की प्रतिपादन पद्धति है अनेकान्त। इस पद्धति से भेदात्मक विवक्षा भी की जा सकती है, अभेदात्मक विवक्षा भी हो सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में अभेद दृष्टि से विचार किया गया है। जीव चैतन्य है और चैतन्य जीव है। यहां द्रव्य और गुण की एकात्मकता का प्रतिपादन किया गया है।

इसका दूसरा पक्ष है—भेदात्मक। यदि हम जीव और चैतन्य को सर्वथा एक ही मान लें तो दोनों का भिन्न-भिन्न निरूपण करने की आवश्यकता ही नहीं है। इनमें भेद भी है।

भगवती सूत्र में एक प्रश्न और उठाया गया है—आत्मा ज्ञान है या अज्ञान। आत्मा ज्ञान भी है अज्ञान भी है, पर ज्ञान नियमतः आत्मा है। वह आत्मा से पृथक् नहीं है।

चैतन्य की दो अवस्थाएं है—ज्ञानावस्था और अज्ञानावस्था। इसका अर्थ है ज्ञान और आत्मा सर्वथा एक नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक है ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अवस्था और दूसरी है उस व्यक्ति के क्षयोपशम की अवस्था जिसमें दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है। एक दर्शन मोहनीय शून्य व्यक्ति का क्षयोपशम और दूसरा दर्शन मोहनीय के उदयावस्था वाले व्यक्ति की अवस्था।

इसमें पात्र का भेद है। पात्र में अन्तर होने के कारण ज्ञान भी दो अवस्थाओं में परिवर्तित हो गया। पात्र के संसर्ग से वस्तु के स्वभाव में बदलाव आ जाता है। दूध सफेद होता है। उसे यदि सफेद पात्र में डाला जाए तो कोई अन्तर नहीं आएगा। यदि उसे लाल या नीले बर्तन में डाला जाए तो उसका रंग बदल जाएगा। पात्र भेद की दृष्टि से ही ज्ञान की अवस्था को दो भागों में बांटा गया है।

यह ज्ञान और चैतन्य में भेद-अभेद दोनों का व्यक्त करने वाला एक महत्वपूर्ण सूत्र है। सर्वथा अभेद होने पर ज्ञान और अज्ञान ये दो अवस्थाएं नहीं बनतीं। ज्ञान और चैतन्य के बीच जो सम्बन्ध सूत्र है, उससे भेद का स्वरूप सहज उभरता है।

ज्ञान आत्मा ही है, अनात्मा नहीं है। पर आत्मा के निमित्त से ज्ञान भी विभक्त हो गया। आत्मा के दो भेद हैं—मिथ्यादृष्टिकोण वाली आत्मा, सम्यक दृष्टिकोण वाली आत्मा। आत्मा मिथ्यादर्शन से युक्त है तो ज्ञान अज्ञान कहलाता है। यदि आत्मा सम्यक् दर्शन से संयुक्त है तो वह ज्ञान है। यह पात्रजनित भेद है।

आत्मा ज्ञान से भिन्न हो सकती है पर ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। अज्ञानावस्था में ज्ञान का अभाव होता है पर आत्मा का नहीं।

दर्शन के सन्दर्भ में यही प्रश्न उभरता है कि आत्मा दर्शन है या दर्शन अन्य। इस प्रश्न को अभेद दृष्टि से उत्तरित करते हुए भगवान महावीर ने कहा— आत्मा दर्शन है और दर्शन आत्मा है। दर्शन सम्यक भी होता है, मिथ्या भी होता है। यहां दर्शन शब्द का एक सामान्य अर्थ देखना ही विवक्षित है।

भारतीय दर्शन में दो शब्द बहुचर्चित रहे हैं जीव और जीवात्मा। वेदान्त के अनुसार जो मूल आत्मा है वह जीव है। ब्रह्म जीव है, व्यापक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, समष्टिगत आत्मा है। एक-एक शरीर में जो आत्मा अवस्थित है वह प्रत्यग आत्मा है, जीवात्मा है। वेदान्त की इस मान्यता ने अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। अगर आत्मा एक है, व्यापक है तो फिर वह हिंसा में व्यापृत कैसे। ब्रह्मा शुद्धात्मा है, समष्टिगत है और वर्तमान में पापकारी कार्यों में लिप्त है तो वह परमात्मा कैसे हो सकती है? वेदान्त कहता है—जो बुराई करता है वह जीव नहीं है। जीवात्मा है जो शरीरधारी आत्मा है, वह बुराई में लिप्त होती है। मूल आत्मा— ब्रह्म उससे सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

जीव शुद्ध है समष्टिगत है, इस मान्यता में आने वाली विसंगतियों को दूर करने के लिए एक शब्द गढ़ा गया— जीवात्मा। बुराई करने वाली आत्मा जीवात्मा है। शरीरवच्छित होने के कारण, शरीरधारी होने के कारण वह सारी बुराइयां करती है। जीव (ब्रह्म) का उससे कोई रिश्ता नहीं है।

स्याद्वादमंजरी में वेदान्त के इसी पक्ष की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुभादिवर निष्प्रतिपक्षमेतद्।
तथापि देहात्बहिरात्मतत्वमतत्ववादोपहताः पठन्ति।

जिस पदार्थ के गुण जिस स्थान पर उपलब्ध हैं वह पदार्थ भी वहीं विद्यमान है। जहां घट के गुण अवस्थित हैं, घट वहीं होगा, वह दूसरे स्थान पर नहीं मिलेगा। यह निर्विवाद सत्य है। कुछ दार्शनिक अपने तत्ववाद से मूढ बने हुए हैं। वे इस सत्य को झुठलाकर आत्म तत्व को देह से बाहर प्रस्थापित करते हैं।

जैन दर्शन ने इस दार्शनिक पहलू पर अत्यधिक स्पष्ट मंतव्य व्यक्त किया है। भगवान महावीर से पूछा गया— महाव्रत, बुद्धि, ज्ञान, पुरुषार्थ, गति, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, योग, उपयोग आदि तत्वों से जीव अलग है, जीवात्मा अलग है। क्या ऐसा कथन संगत है? भगवान महावीर ने इस कथन को अयौक्तिक बताते हुए कहा—जीव और जीवात्मा पृथक् नहीं है। वही जीव है, वही जीवात्मा है। यह एक महत्वपूर्ण दार्शनिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्य है।

आत्मा की व्यापकता और एकात्मता स्वीकार करने वालों के सामने यह समस्या रहेगी कि आत्मा शुद्ध है, ब्रह्म है तो इतनी बुराइयां, इतने विकार क्यों आए? आत्मा एक है तो यह कैसे सम्भव होगा? इस समस्या को सुलझाने के लिए एक पृथक् शब्द गढ़ना पड़ा— जीवात्मा।

जितने भी एकात्मवादी दर्शन हैं वे प्रतिबिम्बवाद का निरूपण करते हैं। उपनिषद् का प्रसिद्ध सूक्त है 'एको घट: नानारूपेण प्रतिबिंबित:' एक घट नाना रूप में प्रतिबिंबित है। सूत्रकृतांग सूत्र में इसी पक्ष को उद्धृत करते हुए कहा गया है—

जैसे एक मृत्पिण्ड नाना रूपों में दिखाई देता है वैसे ही एक ही ज्ञान पिण्ड नाना रूपों में दिखाई देता है।

यह एकात्मवाद का समर्थन सूत्र है। उन्होंने इस सदंर्भ को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है पर जैन दर्शन को उसकी यथार्थता पर संदेह है।

यह मान भी लें कि एक आत्मा के सारे प्रतिबिम्ब है। जो क्रिया बिम्ब में नहीं होगी, वह प्रतिबिम्ब में कैसे प्रस्फुटित होगी? सूरज का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ रहा है। सूरज पर बादल नहीं आया तो पानी में सूरज पर बादल कैसे आएगा? बिम्ब में जैसी क्रिया होगी वैसी प्रतिबिम्ब में होगी। नानात्मवाद तो प्रत्यक्ष है। अलग-अलग व्यक्ति हैं—इसे नकारा नहीं जा सकता। नानात्म को यदि प्रतिबिम्ब स्वीकार करें तो जो घटना बिम्ब में घटित होती है वह प्रतिबिम्ब में कैसे नहीं होगी? यदि बिम्ब में अच्छाइयां बुराइयां नहीं है तो वे प्रतिबिम्ब में कहां से आएगी? कैसे आएंगी?

जैन दर्शन प्रत्येक आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। प्रत्येक आत्मा का पृथक् सत्व है। जैन दर्शन में प्रतिबिम्ब या छाया की कल्पना का अवकाश ही नहीं है। जीव और जीवात्मा एक ही है। दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन में जीव और जीवात्मा— इन दो शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। किन्तु इनके अर्थ में वैषम्य नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म करने वाली आत्मा अन्य है और शुद्धात्मा एक अलग तत्त्व है। इस मंतव्य की स्वीकृति के पीछे भी एक दार्शनिक कठिनाई रही है—यदि अनेक आत्माओं का अस्तित्व माना जाए तो आत्मा को शरीर व्यापी मानना पड़ेगा। शरीर व्यापी होने का अर्थ है अनित्यता को स्वीकार करना। कोई भी सीमित वस्तु नित्य नहीं हो सकती, यह एक सिद्धान्त है। असीम शाश्वत हो सकता है, ससीम शाश्वत नहीं हो सकता। इससे परमात्मा की अनित्यता फलित होती है। इस समस्या से उबरने के लिए वेदान्त ने एकात्मवाद का प्ररूपण किया। नानात्मवाद, प्रत्यग आत्मा की व्याख्या के लिए जीवात्मा को स्वीकृति दी। एकात्मवाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद वेदान्त आदि दर्शनों द्वारा कल्पित हुआ है।

जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का अभ्युपगम है, इसीलिए उसमें ये सब दार्शनिक उलझनें नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर और आत्मा का भेदाभेदवाद

आत्मा काय है। 'कायेन कृतस्य अनुभवनात्' हमारा सारा कार्य शरीर के आधार पर होता है। हमें जितना संवेदन होता है, अनुभव होता है, उसका माध्यम है शरीर। यह आत्मा और शरीर के अभेद स्वरूप की विवक्षा है। शरीर द्वारा कृत का अनुभव आत्मा करे, अन्य के द्वारा कृत का अनुभव अन्य करे तो 'अकृताभ्युपगम' दोष उपस्थित हो जाएगा। कृत का अनुभव होता है, इस अपेक्षा से आत्मा और शरीर एक है।

आत्मा काय नहीं भी है। शरीर का एक हिस्सा काट दिया। जो हिस्सा शरीर से काट दिया, वह शरीर से अलग हो गया, उसमें अनुभव नहीं होगा, संवेदन नहीं होगा। शेष सारे शरीर में अनुभव/संवेदन होगा। शरीर का जो हिस्सा कटा, उसका चैतन्य सिमट कर शरीर में आ जाएगा। शरीर का छेद होने पर भी जीवांश का छेद नहीं होता। इस दृष्टि से आत्मा और शरीर भिन्न है।

जीव अलग हो जाए तो संवेदना की अनुभूति नहीं हो सकती। दोनों को अत्यन्त अभिन्न मानने पर शरीर को जलाने पर आत्मा के जलाने पर प्रसंग आ जाएगा। जीव के नष्ट होने पर परलोक का भी विनाश हो जाएगा। आत्मा अदाह्य, अछेद्य और अभेद्य है-यह सिद्धान्त भी खंडित होगा।

इस सूत्र की व्याख्या का एक दूसरा कोण भी है। शरीर के दो भेद हैं— स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर या औदारिक शरीर, कर्म शरीर। कर्म शरीर की अपेक्षा से आत्मा और शरीर अभिन्न हैं क्योंकि संसारी अवस्था में सूक्ष्म शरीर और आत्मा निरन्तर साथ रहते हैं। औदारिकशरीर की आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न है। व्याख्या के इस कोण से पहला कोण अधिक संगत है।

इस प्रश्न पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी काफी विचार किया है। जिज्ञासा की गई कि आत्मा और शरीर दो हैं या एक? नास्तिक दर्शन आत्मा और शरीर को अभिन्न स्वीकार करते हैं। कुछ आत्मवादी दर्शन दोनों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। सापेक्ष दृष्टि से ही इसका सम्यक् समाधान किया जा सकता है। सर्वथा अभेद मानने पर एक दूसरे पर प्रभाव नहीं हो सकता। यदि धूप और आकाश सर्वथा अभिन्न हैं, तो दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव नहीं माना जा सकता। 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः'— यदि उनमें सर्वथा भेद माने तो आकाश का धूप और वर्षा से क्या लेना देना? भगवान महावीर ने कहा— इनमें भेद भी है अभेद भी है। प्रभाव भी है, अप्रभाव भी है।

शरीर रूपी भी है, अरूपी भी है। 'रूप्यते इति रूपी' जो दिखाई दे, वह रूपी है। दृश्य पदार्थ रूपी है, अदृश्य पदार्थ अरूपी हैं। कर्म-शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रोटोप्लाज्मा की भांति अदृश्य है, इसलिए वह अरूपी है।

शरीर सचित्त भी है, अचित्त भी है। जीवन्त शरीर सचित्त है, सप्राण है। मृत शरीर अचित्त है, निष्प्राण है।

इस सदंर्भ में एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उभरा—जीव शरीर कैसे? क्या जीव शरीर है? उत्तर की भाषा है— जीव शरीर है। 'जीवति प्राणान् धारयति इति जीवः' जो जीता है प्राणों को धारण करता है वह जीव है।

औदारिक शरीर श्वासोच्छ्वास लेता है इसलिए जीव है। हम कर्म शरीर के आधार पर जीव नहीं है। हम जीव हैं औदारिक शरीर के आधार पर। तब तक हमारा जीवन है जब तक हम जीवित हैं। मरने के बाद जीवन नहीं होता। एक प्राणी एक भव से दूसरे भव में जाता है। उस स्वल्पकाल को अन्तराल गति कहा जाता है। उस अन्तराल गति में प्राण नहीं होता, जीव नहीं होता, आत्मा होती है। मुक्तात्मा जीव नहीं है। सिद्धों को भाव प्राण की अपेक्षा से जीव कहा गया है। द्रव्य प्राण की दृष्टि से वे जीव नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजीवों के काय तो स्पष्ट ही है। किसी की मूर्ति बना दी, किसी व्यक्ति का फोटो ले लिया। फोटो और मूर्ति में चित्रित शरीर अजीव होता है।

जीव और अजीव दोनों के शरीर हैं। जीव के भी शरीर होता है, अजीव भी शरीर युक्त है।

जीव और शरीर का सम्बन्ध है। जीव और मन का सम्बन्ध है। जीव और वाणी का सम्बन्ध है। मन और वाणी का जीव से चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं होता। शरीर का जीव से चिरस्थायी सम्बन्ध होता है। मन का सम्बन्ध त्रैकालिक नहीं होता। शरीर का सम्बन्ध त्रैकालिक हो सकता है। जन्म से पूर्व भी काय होता है और वह मृत्यु तक साथ रहता है। मेंढक मरा हुआ है। वर्षा होती है। उसका मृत शरीर फिर जीवित हो जाता है। मृत मेंढक फिर उसी शरीर में जीवित बन जाते हैं। जीवन से पूर्व उसमें शरीर विद्यमान था। शुष्क वनस्पति, काई वर्षा से पुनः जी उठती हैं, हरीतिमा का वरण कर लेती हैं।

काय व्यतिक्रान्त होने पर भी काय रहता है। पहले भी काय था वर्तमान में भी काय है। 'कायज्ज शरीर' चीयमान अवस्था है। उसमें निरन्तर चयापचय/मेटाबोलिज्म की क्रिया चलती रहती है। हमारे शरीर में प्रतिक्षण कितने ही नए परमाणु प्रवेश करते हैं। कितने ही पुराने परमाणु चले जाते हैं। हम धूल को मुट्ठी में भरकर ऊपर उठाते हैं पर उसमें से असंख्य बालु कण नीचे गिर जाते हैं। शरीर का चयापचय भी इसी प्रकार चलता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म की वैज्ञानिकता

जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है इसलिए किसी भी धर्म को वैज्ञानिक कहने में गौरव का अनुभव होता है। इस गौरवानुभूति की भाषा में जैनधर्म को वैज्ञानिक धर्म कहना सहज सरल है। मैं उस सरल भाषा का प्रयोग नहीं कर रहा हूं। उसकी वैज्ञानिक प्रकृति को ध्यान में रखकर उसे वैज्ञानिक धर्म कह रहा हूं।

मनुष्य ही प्रमाण है

जैन धर्म की वैज्ञानिक प्रकृति का पहला सूत्र है—स्वयं सत्य की खोज। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य को सत्य किसी अनिर्वचनीय सत्ता के द्वारा उपलब्ध नहीं होता, वह स्वयं अपनी साधना के द्वारा सत्य की खोज करता है और उसे उपलब्ध होता है। मनुष्य ही सबसे बड़ा प्रमाण है। वही आगम या शास्त्र है। भगवान महावीर ने पुरुष के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया। किसी ग्रंथ का प्रामाण्य उन्हें मान्य नहीं था। जैन दर्शन की विचारधारा को स्वीकार करने वाला पुरुष का अनुयायी होता है, किसी ग्रंथ का अनुयायी नहीं होता।

सत्य अनन्त है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त पर्यायों का अस्तित्व होता है। नये-नये पर्याय जन्म लेते हैं और पुराने-पुराने पर्याय नष्ट होते जाते हैं। इसलिए कोई भी द्रव्य एकरूप नहीं होता। जितने क्षण उतने उनके रूप। इन नाना रूपों और नाना पर्यायों को जानने के लिए प्रतिक्षण खोज का द्वार खुला रखना होता है। शाश्वत के साथ चलने वाले अशाश्वत को जाने बिना द्रव्य के यथार्थ रूप को जाना नहीं जा सकता। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक देश और काल में प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज का अधिकार प्राप्त है।

सत्य के दो पहलू

एक व्यक्ति केवली या सर्वज्ञ हो जाता है। वह सत्य को समग्रता से जान लेता है, देख लेता है। फिर भी सत्य की खोज का द्वार बन्द नहीं होता। केवली सत्य को जान सकता है किन्तु उसके रूप को वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। हमारा शब्दकोश सीमित है। मनुष्य की बोलने की शक्ति सीमित है। आयुष्य की शक्ति भी सीमित है। इसलिए कोई भी व्यक्ति समग्र सत्य को कभी भी कह नहीं सकता। समग्र सत्य कहा नहीं जा सकता इसीलिए सत्य की खोज का द्वार सदा खुला रहता है।

हमारा जगत परिवर्तनशील है। समाज भी परिवर्तनशील है। जैन दर्शन परिवर्तन और अपरिवर्तन— दोनों को सत्य के दो पहलू मानता है। अपरिवर्तन के बिना परिवर्तन की और परिवर्तन के बिना अपरिवर्तन या शाश्वत की व्याख्या करने वाला दर्शन वैज्ञानिक नहीं हो सकता। अनेकान्त दृष्टि में द्रव्य परिवर्तन और अपरिवर्तन—दोनों का समन्वित रूप है।

जड़ का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा— 'प्रभो! अन्यतीर्थक आपके आतंशयों को अस्वीकार कर सकते हैं किन्तु यथार्थवाद को कैसे अस्वीकार करेंगे।' यथार्थवादी दृष्टिकोण में जड़ की सत्ता अस्वीकृत नहीं होती। जैन दर्शन केवल चैतन्य की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता, उसमें जड़ की सत्ता भी स्वीकृत है। चेतन और जड़—दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जड़ तत्त्व प्रत्यक्ष है। उसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। उसे मानस सृष्टि मानना भी एक जटिल प्रक्रिया है। इसलिए जड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व युक्ति-संगत और नैसर्गिक है।

स्वतन्त्र कर्तृत्व का स्वीकार

वैज्ञानिक धर्म की एक कसौटी है—अपने कार्य के लिए अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपको उत्तरदायी मानना। बहुत लोग अपने कार्य के लिए स्वयं को उत्तरदायी नहीं मानते, वे परिस्थिति या परम सत्ता को उत्तरदायी बतलाकर स्वयं अपने उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करते हैं। 'मैं क्या करूं परिस्थिति ही ऐसी थी इसलिए यह कार्य हो गया। मैं क्या करूं, परमात्मा की ऐसी ही मर्जी थी इसलिए ऐसा हो गया।' परमात्मा की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता तो फिर कर्तृत्व को मैं अपने पर कैसे ओढ़ सकता हूं। इस परिस्थिति या परम सन्ता की परतंत्रता ने मनुष्य की स्वतन्त्रता या उत्तरदायित्व पर आवरण डाल रखा है। जब तक मनुष्य अपने कर्म के लिए अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता, उसकी स्वतन्त्र चेतना का विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्र चेतना का विकास होना आज की बहुत बड़ी अपेक्षा है। इसके अभाव में विकास में अवरोध बनने वाले अनेक मानसिक भ्रम पैदा हुए हैं। उन भ्रान्तियों में जीने वाला व्यक्ति अपनी यान्त्रिक चेतना से मुक्त नहीं हो सकता।

कर्म सर्वेसर्वा नहीं है

कर्म का सिद्धान्त धर्म की वैज्ञानिकता का स्वयंभू साक्ष्य है। बहुत सारे धर्म कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं किन्तु उसकी एकांगिता को स्वीकार कर मनुष्य को यंत्र बना देते हैं। वस्तुतः यह इष्ट नहीं है। कर्म मनुष्य की चेतना को प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है। वह सर्वेसर्वा नहीं है। काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति आदि अनेक तत्त्व हैं जो मनुष्य की चेतना को प्रभावित करते हैं। चेतना केवल प्रभावित ही नहीं है, अप्रभावित भी है। यदि केवल प्रभावित होने की बात हो तो उसका अपना अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। उसमें अप्रभावित रहने की क्षमता है इसीलिए वह अपने अस्तित्व को बनाए रख सकती है।

इस समन्वित क्रिया के द्वारा मनुष्य के बहु-आयामी व्यक्तित्व और उसके विविध कार्यों की व्याख्या की जा सकती है। व्याख्या का यह सर्वांगीण और समन्वित दृष्टिकोण ही धर्म की वैज्ञानिकता है। एकांगी दृष्टिकोण धर्म को अवैज्ञानिक बना देता है। सापेक्षता और समन्वय का दृष्टिकोण वर्तमान चिन्तन की एक पवित्र धारा है। उसके द्वारा सत्य के महासागर की अतल गहराइयों में निमज्जन किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्या और मुक्ति

इस दुनिया में समस्या का कोई अन्त नहीं है। पर प्रश्न होता है कि वास्तविक समस्या है क्या? इस पर जैन दर्शन ने विचार किया और संक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया। समस्या का नाम है आस्रव, केवल तीन अक्षर। समाधान है संवर, केवल तीन अक्षर। आस्रव समस्या है और संवर मुक्ति है। इसको हम कुछ विस्तार से समझें।

प्रत्येक व्यक्ति में देखने का कोण होता है, दृष्टिकोण होता है। वह मिथ्या या सम्यक् होता है। पहली समस्या है मिथ्या दृष्टिकोण। इससे दूसरी समस्या पैदा होती है। समस्या समस्या को पैदा करती है। दूसरी समस्या है तृष्णा। एक ऐसी प्यास जग जाती है, जो अमिट है। वह कभी बुझती नहीं है। पदार्थ और भोग के प्रति वह प्यास जाग जाती है। जैन-साहित्य में इस प्यास को रूपक के द्वारा समझाया गया है।

एक आदमी जंगल में कोयला बनाने का काम करता था। वह जंगल में जाता, लकड़ियां काटता और कोयला बनाता। जेठ का महीना। चिलचिलाती धूप। मध्याह्न का समय। एक ओर आग और दूसरी ओर सूर्य का तीव्र ताप। उसे प्यास लगी। पास में पानी थोड़ा था। उसने कंठ गीला किया और यह सोचकर सो गया कि जागते रहने से प्यास अधिक लगेगी। स्वप्न आया। उसने देखा कि वह एक समुद्र के पास खड़ा है; प्यास तीव्र है। उसने समुद्र का सारा पानी पी लिया है। फिर भी प्यास नहीं बुझी। अब उसने सोचा, क्या करूं? वहां से वह चला। सरोवरों और नदियों के पास गया। उनका सारा पानी पी गया, फिर भी प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। वह बुझी नहीं। फिर वह तलैया पर गया। पानी सूख गया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीचड़ था। उसने कीचड़ में घास का पूला डाला। वह कुछ गीला हो गया। उसने सोचा, इसको मुंह में निचोड़कर प्यास बुझाऊं। जिस आदमी की प्यास समुद्र, सरोवर, नदी-नालों और कुओं से नहीं बुझी, क्या उसकी प्यास उस घास के पूले से टपकने वाली दस-बीस बूंदों से बुझ पाएगी? कभी सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार मिथ्या दृष्टिकोण मनुष्य में ऐसी प्यास जगा देता है कि तीनों लोक के सारे पदार्थ उपलब्ध हो जाने पर भी वह बुझती नहीं। वह अमिट प्यास बन जाती है।

वह प्यास तीसरी समस्या को उत्पन्न कर देती है। वह है उन्माद, पागलपन, नशा। तृष्णा प्रमाद पैदा करती है। प्रमाद उन्माद है, पागलपन है। इसके प्रभाव से आदमी जानते हुए भी नहीं जान पाता, देखते हुए भी नहीं देख पाता, सुनते हुए भी नहीं सुन पाता। विचित्र स्थिति का निर्माण हो जाता है।

प्रमाद आवेश को जन्म देता है, कषाय को जन्म देता है। प्रमाद उन्माद है। इसमें आदमी पागल हो जाता है और फिर बात-बात में क्रोध करना, अहंकार आना, कपट और ठगी करना, घृणा और ईर्ष्या, माया और वंचना करना—ये सारे आवेग उत्पन्न होते हैं।

आवेग चंचलता पैदा करता है। यह भी एक समस्या है। मन, वाणी और शरीर की चंचलता स्वयं में एक बड़ी समस्या है। चंचलता में स्वयं को देखने की बात समाप्त हो जाती है।

जब व्यक्ति अपने आपको नहीं देख पाता, तब हजारों-हजारों समस्याएं पैदा होती चली जाती हैं। इनका कहीं अंत नहीं आता। गरीबी की समस्या हो, मकान और कपड़े की समस्या हो या अन्यान्य समस्याएं हों, वे सारी की सारी गौण समस्याएं हैं, मूल समस्या नहीं है। ये पत्तों की समस्याएं हैं, जड़ की नहीं हैं। पत्तों का क्या? पतझड़ आता है, सारे पत्ते झड़ जाते हैं। वसन्त आता है और सारे पत्ते आ जाते हैं, वृक्ष हरा-भरा हो जाता है। यह मूल समस्या नहीं है। मूल समस्या यह है कि व्यक्ति अपने आपको नहीं देख पा रहा है। उसके पीछे ये पांच कारण या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्याएं काम कर रही हैं—१. मिथ्या दृष्टिकोण, २. असंयम, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. चंचलता। जैन दर्शन ने बताया कि मूल समस्याएं ये पांच हैं। यही वास्तव में दु:ख है। यही दु:ख का चक्र है। जब तक इस दु:ख के चक्र को नहीं तोड़ा जाएगा, तब तक जो सामाजिक, मानसिक और आर्थिक समस्याएं हैं, उनका सही समाधान नहीं हो पाएगा।

एक प्रश्न है कि एक आदमी करोड़पति है, अरबपति है। वह अप्रामाणिक और अनैतिक व्यवहार करता है। क्या वह बुराई गरीबी के कारण करता है? अभाव के कारण करता है? रोटी-रोजी के लिए करता है? गरीब आदमी इतना अनैतिक नहीं होता, जितना अनैतिक एक धनी और अमीर आदमी होता है। समस्या धन की नहीं है। समस्या लोभ की है। यह सबसे बड़ी समस्या है। इसका समाधान नहीं खोजा जाता। समाधान खोजा जाता है गरीबी का। वह कभी समाप्त नहीं होती। कुछ लोग बहुत धनी हो जाते हैं और कुछ अत्यधिक गरीब रह जाते हैं। जहां पहाड़ है वहां गढ़ा अवश्य होगा। ऊंचाई है तो निचाई भी होगी। सर्वत्र समतल हो नहीं सकता। क्या समानता हो सकती है? यह असंभव नहीं है। पर जब तक मूल समस्या पर ध्यान नहीं जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं मिल सकता।

इन समस्याओं का एक शब्द में समाधान है—संवर। इसको हम विस्तार से समझें। समस्या के जैसे पांच घटक हैं, वैसे ही समाधान के—संवर के भी पांच घटक हैं। पहला है सम्यक् दृष्टिकोण। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् होगा, उसमें संवेग जागेगा, निर्वेद जागेगा, अनुकंपा का भाव जागेगा। सम्यक् दृष्टि का लक्षण है मन की शान्ति। संवेग होगा, वैराग्य होगा पदार्थ के प्रति। तृष्णा कम होने लगेगी। निर्वेद अर्थात अनासक्ति आएगी। अनुकंपा जागेगी। करुणा का प्रवाह फूट पड़ेगा। सत्यनिष्ठा प्रबल होगी।

दूसरा है तृष्णा की कमी। जब तृष्णा कम होगी, तब प्रमाद कम होगा। अप्रमाद या जागरूकता बढ़ेगी। यह तीसरा समाधान है।

जब अप्रमाद आता है, जागरूकता बढ़ती है, तब क्रोध, अहंकार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोभ, कपट, द्वेष आदि कम हो जाते हैं। भय भी कम होता जाता है। ईर्ष्या होती है पदार्थ की लोलुपता के कारण। जब पदार्थ की लालसा मिट जाती है, तब ईर्ष्या का भाव नहीं जागता।

जब ये सारे दोष कम हो जाते हैं, तब पांचवां समाधान प्राप्त होता है और वह है चंचलता का अभाव। मन, वाणी और शरीर की चंचलता कम हो जाती है। जब चंचलता कम होती है, तब आदमी अपने आपको देखने में समर्थ होता है। यह यथार्थ में समाधान है। अपने आपको देखना ही ध्यान है।

संक्षेप में कहें तो समस्या है आस्रव और समाधान है संवर। कुछ विस्तार में कहें तो समस्याएं पांच हैं, आस्रव पांच हैं और समाधान भी पांच हैं, संवर भी पांच हैं।

जैन आचार्यों ने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र—इस रत्नत्रयी को भी समाधान माना है। यही मुक्ति का मार्ग है। पहले जानो, फिर जानी हुई बात पर श्रद्धा करो, आस्था का अनुबंध करो और फिर उसका आचरण करो। यह भी समाधान का एक मार्ग है।

आदमी जानना नहीं चाहता। वह पढ़ता है, पर जानता नहीं। जानने का तात्पर्य है अपने आपको जानना। जो अपने आपको जानता है, वह सबको जान लेता है। जो अपने आपको नहीं जानता, वह बहुत जानकर भी थोड़ा जान पाता है। जो अपने आपको जानता है, वह थोड़ा जानकर भी बहुत जान लेता है। यह अध्ययन की सरल पद्धति है। यह अन्तर्दृष्टि को जगाने की पद्धति है। जब ज्ञान आत्मगत हो जाता है, तब बाहरी ज्ञान को पढ़ने की इतनी जरूरत नहीं होती। एक व्यक्ति पढ़कर जानता है। पर अन्तर्दृष्टि से जितना जाना जाता है, उतना सौ वर्ष तक पढ़कर भी नहीं जाना जा सकता। ज्ञान की असीम शक्ति हमारे भीतर है। जब उसका द्वार खुल जाता है, तब उसमें सब कुछ समाविष्ट हो जाता है।

दूसरा है सम्यक् दर्शन। दर्शन का अर्थ है अनुभव करना। बहुत बड़ा अन्तर है जानने में और अनुभव करने में। एक आदमी ने एक बात पढ़कर जान ली। परन्तु जब तक वह उसका स्वयं अनुभव नहीं कर लेता, तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक जानी हुई बात अधूरी ही रह जाती है।

पंडित ने पंडिताइन से कहा—कल मंगलवार है। अमुक ग्रहों का योग है। मैं एक अनुष्ठान करूंगा। उससे हमारी गरीबी समाप्त हो जाएगी। मैं ठीक समय पर मंत्र का उच्चारण करूंगा। उस समय तुम हंडिया में ज्वार के दाने डाल देना। वे उस योग के प्रभाव से मोती बन जाएंगे। पंडिताइन ने बात जान ली, सुन ली। मन में आस्था नहीं हुई, सन्देह नहीं मिटा। ज्ञान हुआ, पर दर्शन नहीं हुआ। पड़ोसिन ने यह बात सुन ली थी।

मंगलवार का दिन। ठीक समय पर मंत्र का उच्चारण। पंडिताइन ने पहले से तैयारी नहीं की थी। वह हड़बड़ाकर उठी। ज्वार ले आई। समय निकल चुका था। ज्वार के दाने मोती नहीं बने।

पड़ोसिन जागरूक थी। पूरी तैयारी पहले से ही कर रखी थी। उसने ठीक समय पर ज्वार के दाने डाले। सारे मोती बन गए। वह पंडितजी के घर कटोरी भर मोती ले गई। पंडित जी ने देखा। पंडिताइन भी आंखें फाड़कर देखने लगी। उसने सोचा—मैं भी उस समय ज्वार के दाने डाल पाती तो मोती बन जाते। पर अब क्या हो? न मंगलवार, न मंत्र और न मोती।

जानकर भी अनुभव नहीं होता, दर्शन नहीं होता तो समस्या का समाधान नहीं होता, ज्वार के दाने मोती नहीं बनते। दर्शन है समस्या के समाधान का मार्ग। दर्शन का अर्थ है—आस्था का दृढ़ीकरण, जानना और जानी हुई बात का अनुभव करना।

तीसरा मार्ग है आचरण, अनुभव का क्रियान्वयन करना। जब ये तीनों समन्वित होते हैं, तब मुक्ति दूर नहीं होती। मुक्ति का वास्तविक अर्थ है—अपने संस्कारों का मिट जाना, कषायों का समाप्त हो जाना, आश्रव का समाप्त हो जाना।

जैन दर्शन ने यह स्पष्ट किया है कि मरने के बाद मुक्ति होती है, यह भी एकांगी है। जिस व्यक्ति को वर्तमान जीवन में मुक्ति नहीं मिलती, समाधान नहीं मिलता, उसे मरने के बाद भी मुक्ति नहीं मिलेगी, समाधान नहीं मिलेगा। सबसे अधिक मूल्यवान है—वर्तमान का क्षण। इस आधार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर दो मार्ग सामने आते हैं। एक है संवर का मार्ग और दूसरा है निर्जरा का मार्ग। पुराने संस्कार क्षीण हों और नये संस्कार न बनें—यह है निर्जरा और संवर का कार्य। ध्यान के द्वारा दोनों बातें होती हैं। संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है। प्रेक्षा का अर्थ है—वर्तमान में जीना। जब वर्तमान क्षण का अनुभव होता है, तब संवर अपने आप होता है। उस समय न विचार होता है, न विकल्प होता है और न भाव होता है। उस समय आत्मा का तीव्र प्रयत्न होता है, झटका लगता है और तब पुराने संस्कार निर्जीर्ण होते हैं।

समस्या के समाधान की अन्तिम प्रक्रिया है—संवर और निर्जरा की साधना। पुराने संस्कारों का समाप्त होना और नये संस्कारों का निर्माण न होना।

भगवान महावीर ने समस्या की मूलग्राही दृष्टि दी। उन्होंने कहा—मूल को पकड़ो, उसको नष्ट करो। सब समस्याएं सुलझ जाएंगी। जब समस्या की पकड़ ठीक होगी तो उसका समाधान भी ठीक होगा। संवर की पकड़ आएगी तो स्थायी समाधान मिलेगा।

टालस्टाय के पास एक भिखारी आया। उसने भीख मांगी, टालस्टाय बोले—भीख मांगना उचित नहीं है। श्रम करो और रोटी कमाकर खाओ। भिखारी बोला—श्रम करने का साधन ही नहीं है मेरे पास। क्या करूं? टालस्टाय ने उसे उपकरण दिए। वह भीख मांगना छोड़कर श्रम करने लगा।

यह है समस्या का मूलस्तरीय समाधान। टालस्टाय ने उस भिखारी को सहारा भी दिया और भीख मांगना भी छुड़ा दिया। यह है समस्या के प्रति यही दृष्टिकोण।

इस प्रक्रिया से आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का भी सही समाधान प्राप्त हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम हैं अपने सुख-दुःख के कर्ता

हमारी दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हैं, जिसने दुःख न भोगा हो। प्रत्येक व्यक्ति कभी सुख और कभी दुःख भोगता रहता है। आदमी सुख चाहता है, दुःख नहीं। चाही वस्तु मिले तब तो ठीक-ठाक है पर अनचाही वस्तु मिलती है तब प्रश्न होता है कि यह दुःख कहां से आया है। जहां से सुख आया है वहां से दुःख आया। जैसे सुख आया, वैसे ही दुःख आया। घर दोनों का एक ही है। एक ही दरवाजे से दोनों आते हैं। एक ही दरवाजा है, उससे आदमी भी आ गया, कुत्ता भी आ गया, गधा भी आ गया। दोनों का स्रोत एक है। पर प्रश्न होता है कि आदमी सुख चाहता है, सुख के लिए उद्यम करता है? इसका उत्तर मिला कि अपनी आत्मा ही सुख को करने वाली है, अपनी आत्मा ही दुःख को करने वाली है। दूसरा कोई न सुख करने वाला है और न दुःख करने वाला है। क्या सुख-दुःख करने वाला ईश्वर नहीं है? कोई नहीं है। दूसरा कोई नहीं है। आत्मा स्वयं है। बात उलझी हुई है कि ईश्वर को तो कर्ता नहीं माना आत्मा को कर्ता मान लिया तो ईश्वर को ही कर्ता मान लेते है। इस पर जैन दर्शन ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया कि मूल तत्त्व का कर्ता कोई नहीं है। न आत्मा है, न परमात्मा है। सुख और दुःख में कोई मूल तत्त्व नहीं हैं। ये तो पर्याय हैं। यह एक अवस्था है। मनुष्य भी मूल तत्त्व नहीं है। मूल तत्त्व है आत्मा। मनुष्य है एक पर्याय। एक अवस्था। मूल तत्त्व है परमाणु। यह घर बना, कपड़ा बना, बर्तन बना, घड़ा बना, जितनी चीजें बनीं, ये मूल तत्त्व नहीं हैं। मूल तत्त्व है परमाणु। मूल तत्व है आत्मा। परमाणु का कर्त्ता कोई नहीं है। आत्मा का कर्त्ता कोई नहीं है। किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु में अवस्थाएं होती रहती हैं। परमाणु अपनी अवस्थाओं का स्वयं कर्ता है। पुद्गल भी कर्ता है। आत्मा अपनी अवस्थाओं का कर्ता है। फर्क इतना है कि आत्मा इच्छापूर्वक कर्ता है और अचेतन है वह स्वभावतः कर्ता है। वह इच्छपूर्वक नहीं कर सकता। आत्मा चेतना है, ज्ञान है, इसलिए जब चाहे तब सुख करता है, जब चाहे तब दुःख करता है। अपनी इच्छा के साथ करता है। प्रश्न होगा कि क्या दुःख की भी कोई इच्छा करता है। इस विषय में जैन दर्शन ने बहुत गहरा मंथन किया है। जो सुख की इच्छा करता है, वह दुःख की इच्छा जरूर करता है। जो जीने की इच्छा करता है, वह मरने की इच्छा जरूर करता है। सुख-दुःख का जोड़ा है। जीवन-मरण का जोड़ा है। एक की इच्छा नहीं होती। इच्छा होगी तो दोनों की होगी और नहीं होगी तो दोनों की ही नहीं होगी। दोनों आते हैं। जो व्यक्ति सुख की इच्छा करता है, वह दुःख की इच्छा करता है, जरूर करता है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! दुःख कौन करता है? भगवान ने उत्तर दिया—अपनी आत्मा करती है। दुःख आत्मा के द्वारा कृत है, दूसरे के द्वारा कृत नहीं है। यह आत्म-कर्तृत्व का सिद्धान्त है। सारा दायित्व स्वयं पर है। दूसरा कोई इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। सारा उत्तरदायित्व स्वयं व्यक्ति पर है।

बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति अच्छा काम करता है। कोई पूछता है कि किसने किया तो उत्तर देगा कि मैंने किया। जब कोई गलत काम हो गया, बुरा काम हो गया, पूछेगा कि किसने किया तो कहेगा कि पता नहीं या कहेगा कि अमुक ने कर दिया। बुरे काम का उत्तरदायित्व आदमी अपने ऊपर लेना नहीं चाहता। अच्छे काम का दायित्व अपने पर ही ओढ़ना पसन्द करता है, दूसरे को देना नहीं चाहता। यह एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है। किन्तु इस विषय में जैन दर्शन का सिद्धान्त है कि अच्छा-बुरा जो जैसा है, प्रत्येक कार्य के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। न कोई परमात्मा उत्तरदायी है, न कोई दूसरा व्यक्ति उत्तरदायी है, न कोई पदार्थ उत्तरदायी है। व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। अपने उत्तरदायित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भार भी स्वयं को वहन करना होगा।

इस स्थिति में एक नयी चेतना का विकास होता है। अपना कर्तृत्व और अपना दायित्व तो फिर दोषारोपण की वृत्ति समाप्त हो जाती है। निमित्त हो सकता है। दो बातें हैं। एक निमित्त और एक साक्षात कर्तृत्व। निमित्त दुनिया में बहुत सारे हैं। प्रतिकूल परिस्थिति आयी, व्यक्ति को दुःख हो गया। अनुकूल परिस्थिति आयी, व्यक्ति को सुख हो गया। वह निमित्त बना किन्तु सुख-दुःख का संवेदन वह परिस्थिति नहीं करती। सुख-दुःख का संवेदन व्यक्ति स्वयं करता है। सुख-दुःख का अर्जन व्यक्ति स्वयं करता है।

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के मन में दो परते हैं—एक सुख के संवेदन की और एक दुःख के संवेदन की। एक नियंत्रण की और एक खुलावट की। व्यक्ति के मन में आता है, यह काम कर लूं। परिस्थिति आयी क्रोध करने की। मन में आया क्रोध कर लूं। किन्तु हमारे मस्तिष्क में ऐसी व्यवस्था है, ऐसी प्रणाली है, वह कहेगा कि अभी नहीं। अभी क्रोध क्यों करते हो? अभी देखो। अभी क्रोध मत करो। जरा प्रतीक्षा करो। दोनों प्रणालियां साथ-साथ काम कर रही हैं। यदि यह नियंत्रण की प्रणाली न हो, तो आदमी आपा खो बैठे। यह प्रणाली बार-बार रोकती है।

कर्मशास्त्र में भी ये दो बातें हैं। दो विरोधी बातें साथ में चलती हैं। एक आवरण, दूसरा अनावरण। यानी हमारे ज्ञान का आवरण भी है और अनावरण भी है। आवरण है, उससे हम पूरी बात को नहीं जानते। किन्तु अनावरण है, इसलिए जानते भी हैं। देखते भी हैं और नहीं भी देखते हैं। क्योंकि दर्शन का आवरण भी है और दर्शन का अनावरण भी है। हम सुख भी भोगते हैं और दुःख भी भोगते हैं। क्योंकि सात वेदनीय कर्म का उदय भी है और असात वेदनीय कर्म का उदय भी है। दोनों एक साथ नहीं होते। दोनों विरोधी शक्तियां एक साथ नहीं आतीं। जब एक उदय में आती है तो दूसरी शान्त हो जाती है। दूसरी उदय में आती है, तो पहली शान्त हो जाती है।

हमारी चेतना में मूर्च्छा भी है और जागरूकता भी है। यानी मोह का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदय भी है और मोह का उपशमन भी है। दोनों बातें हैं। मोह उपशान्त है, इसलिए हम अच्छा आचरण करते हैं। मोह का उदय है, इसलिए मिथ्या आचरण भी करते हैं। दोनों विरोधी बातें साथ में चलती हैं। अच्छा नामकर्म है, हम अच्छे-अच्छे पुद्गलों का अनुभव करते हैं। बुरा भी है, बुरे का भी अनुभव करते हैं। सम्मान भी पाते हैं और असम्मान भी पाते हैं। हमारे शरीर में भी दो सूक्ष्म विरोधी परते हैं। हमारे मस्तिष्क में भी दो विरोधी परतें काम कर रही हैं। दोहरा व्यक्तित्व है। वैसे दोहरा व्यक्तित्व बहुत खतरनाक होता है। पर यह दोहरा व्यक्तित्व हमारी प्रकृति है, निसर्ग है। हमारे शरीर में भी हमारा दोहरा व्यक्तित्व है और हमारे स्थूल मस्तिष्क में भी दो व्यक्तित्व हैं। कभी एक प्रकट होता है और कभी दूसरा प्रकट होता है। कभी हमें लगता है कि आदमी बहुत अच्छा है और कभी लगता है कि आदमी बहुत बुरा है। एक आदमी डाकू भी रहा और कभी संत बन गया। कभी संत, कभी डाकू। कभी डाकू और कभी संत। यह कोई नयी बात नहीं, नयी घटना नहीं। जो डाकू है, उसके पीछे संत भी बैठा है और जो संत है, उसके पीछे डाकू भी बैठा है। ये दोनों बातें हमारे साथ-साथ हो रही हैं। यह एक निसर्ग है। इसीलिए आत्मा सुख और दु:ख दोनों की कर्त्ता है। हम स्वयं सुख और दु:ख दोनों के कर्त्ता हैं। दूसरा कोई सुख-दु:ख देने वाला नहीं है।

हमारे पास प्रवृत्ति के तीन साधन हैं—मन, वचन और शरीर। सारी प्रवृत्तियां इन तीनों के माध्यम से होती हैं। अच्छा मन, अच्छी प्रवृत्ति। अच्छा वचन, अच्छी प्रवृत्ति। अच्छा शरीर का प्रवर्तन, अच्छी प्रवृत्ति। मन की बुरी प्रवृत्ति, वचन की बुरी प्रवृत्ति और शरीर की बुरी प्रवृत्ति। जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसा हमारा अनुबंध हो जाता है, संस्कार का निर्माण होता है। ऐसे पुद्गलों का आकर्षण होता है और वे पुद्गल अनुबंध स्थापित कर लेते हैं। हमारे साथ रह जाते हैं, जुड़ जाते हैं और फिर अपनी रासायनिक प्रक्रिया को प्रकट करते हैं। यह सारी रासायनिक प्रक्रिया है। आज का शरीरविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि शरीर में जैसा रसायन बनता है, वैसा भाव बनता है, वैसा आचरण बनता है, वैसा ही उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार होता है। आदमी हिंसा करता है। क्यों करता है? क्योंकि हिंसा को पैदा करने वाला रसायन काम कर रहा है। नाड़ीतंत्र का जैसा रसायन बना, वैसा ही वह आचरण करने लग जाता है। ठीक यही प्रक्रिया हमारे सूक्ष्म शरीर में होती है। जिस प्रकार के संस्कार का अनुबंध हमने कर लिया, वे परमाणु वैसे ही रसायन को पैदा करेंगे और वे रसायन हमारे भावों का निर्माण करेंगे। एक पूरी शृंखला है। यह स्थूल शरीर है, इसके भीतर है सूक्ष्म शरीर और उसके भीतर है एक सूक्ष्मतर शरीर। हमारे सारे संस्कार, परमाणुओं के अनुबंध उस शरीर में रहते है। सारा लेखा-जोखा वहां है। दूसरा कोई नियंता नहीं है, नियम है, किन्तु नियंता नहीं है। नियम अलग बात है और नियंता अलग बात है। बहुत सारी बातें नियम से चलती हैं। कोई नियंता नहीं होता। पानी बरसा, बूंदे गिरीं और घास उग आयी। अंकुर उग आया। कौन नियंता है? कोई नियंता नहीं है। यह नियम है। भूमि उर्वरा है। पानी मिला और घास उग आयी। यह एक नियम है। दो शक्तियां मिलीं, बिजली पैदा हो जाएगी। पोजेटिव और नेगेटिव—इन दोनों शक्तियों के मिलते ही बिजली पैदा हो जाएगी। जो बिजली आदमी पैदा करता है, उसका तो नियंता आदमी है। बिजली पैदा करने वाला तो आदमी है। जो बिजली यहां पैदा हुई, वही बिजली बादलों में है। उसका कोई नियंता नहीं। यह प्रकृति का नियम है। सारा संसार नियमों से चलता है।

दो प्रकार के नियम होते हैं—एक जागतिक नियम और दूसरा सामयिक नियम। यह मनुष्य के द्वारा बनाया जाता है या पदार्थ के योग से बनता है। सत्य की खोज का अर्थ है नियम की खोज। विज्ञान का विकास नियमों के आधार पर हुआ है। जिस व्यक्ति को पता चला, एक सचाई प्रकट हो गई। हजारों-हजारों नियम हैं इस संसार में। हमारे शरीर में भी हजारों नियम हैं। बहुत सारे नियम हैं। नियम का पता चला और नयी बात सामने आ गई।

कुछ काम स्वभाव के द्वारा होते हैं और कुछ काम क्रिया के द्वारा होते हैं। कार्य-कारण का भाव सर्वत्र लागू नहीं होता। जो कार्य होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका कारण होता ही है। यह बात सब जगह लागू नहीं होती। सीमित क्षेत्र में यह बात लागू होती है कि कार्य बना तो उसका कोई कारण है। पर कुछ ऐसे हैं जो कार्य हैं ही नहीं। मूल तत्त्व कार्य नहीं हैं। वे न कारण हैं और न कार्य हैं। वे अपने-आप में तत्त्व हैं। कारण तो फिर भी बन सकते हैं, पर कार्य बिल्कुल नहीं। जितनी अवस्थाएं होती हैं, जो परिवर्तन होते हैं, उनमें भी बहुत प्रकार के परिवर्तन होते हैं। कुछ परिवर्तन किया हुआ होता है और कुछ परिवर्तन अपने-आप होता है, स्वभाव से होता है, काल के द्वारा होता है। एक आदमी पैदा हुआ, वह बूढ़ा होगा। बुढ़ापा कौन लाया? किसने बूढ़ा बनाया? कोई बूढ़ा बनाने वाला नहीं है। यह काल का नियम है। प्रत्येक वस्तु एक कालावधि के बाद पुरानी हो जाती है। प्रत्येक वस्तु एक कालावधि के पश्चात समाप्त हो जाती है। यह काल के द्वारा किया हुआ है, किसी व्यक्ति या नियंता के द्वारा किया हुआ नहीं है। किसी दूसरे का नियंत्रण नहीं है। कहीं है काल का नियंत्रण, कहीं है स्वभाव का नियंत्रण, कहीं है व्यक्ति का अपना नियंत्रण। अलग-अलग प्रकार की वस्तुएं, अलग-अलग परिस्थितियां और अलग-अलग नियमन। एक ही कोई शक्ति नियंता नहीं है। अपने भाग्य का नियंता व्यक्ति स्वयं हैं। नियमन की सहायक सामग्री सारा संसार है। उसमें वस्तु निमित्त बनती है, क्षेत्र निमित्त बनता है, काल निमित्त बनता है, और भी हजारों चीजें निमित्त बनती हैं। किसी ने गाली दी और गुस्सा आ गया। किसी ने अप्रिय बात कही और क्रोध आ गया। किसी ने आज्ञा का अतिक्रमण किया और क्रोध आ गया। निमित्त हजारों मिल सकते हैं, पर करने वाला व्यक्ति स्वयं है। वह चाहे तो नियंता बन सकता है और चाहे तो कर्त्ता बन सकता है। क्रोध पर नियंत्रण भी कर सकता है और क्रोध भी कर सकता है। ये दोनों स्थितियां उसके हाथ में हैं। जैन दर्शन ने बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया कि तुम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हो। तुम्हारे भाग्य का विधाता दूसरा नहीं है। तुम्हारे भाग्य की बागडोर तुम्हारे हाथ में है। दूसरा कोई उसे थामे हुए नहीं है। न किसी से आजीजी करो और न किसी पर दोषारोपण करो। न तो ऐसा सोचो कि अमुक आदमी हमारे भाग्य का निर्माण करेगा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न किसी पर दोषारोपण करो कि अमुक ने मेरे भाग्य को बिगाड़ दिया। जब यह सिद्धान्त समझ में आता है, तब व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होता है। अपने आचरण पर उसका ध्यान आकर्षित होता है कि मैं किस प्रकार का आचरण करूं? कहीं मेरे आचरण के द्वारा, मेरे व्यवहार के द्वारा मेरा भाग्य कुंठित हो रहा है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। इस प्रसंग में एक बड़ी मार्मिक कहानी है।

दो सगे भाई किसी ज्योतिषी के पास गए। ज्योतिषी बड़ा अनुभवी था। उसने दोनों को देखा। छोटे भाई से उसने कहा—तुम्हें कोई राज्य मिलने वाला है। तुम बड़े शासक बनोगे। बड़े भाई से कहा—सावधान रहना। कोई बड़ी विपत्ति आने वाली है। दोनों को बता दिया। एक बहुत खुश हुआ। दूसरा बहुत उदास हो गया। दोनों घर पर आ गए। दोनों सगे भाई। दूसरे ने सोचा कि ज्योतिषी ने कहा है, इसलिए विपत्ति तो आने वाली है। मुझे क्या करना चाहिए? ठीक है, कष्ट तो आएगा पर मैं पहले ही क्यों न संभल जाऊं? संभल गया। पूरा जागरूक बन गया। पहले वाले ने सोचा—अब चिन्ता की क्या बात? राज्य मिलने वाला है। दुनिया भर के जितने व्यसन थे, उसने सब शुरू कर दिए। धन को उजाड़ना शुरू कर दिया। शराब पीना शुरू कर दिया। मांस खाना शुरू कर दिया। दुनिया की सारी बुराइयों में लिप्त हो गया।

एक जागरूक बन गया और दूसरा प्रमादी बन गया। हुआ यह कि किसी राजा का पुत्र मर गया। पीछे कोई था नहीं। राजा ने सोचा, बूढ़ा हूं। व्यवस्था करूं। पुराने जमाने में कुछ पद्धतियां होती थीं। पद्धति अपनायी और उसमें बड़ा भाई उत्तीर्ण हो गया। बड़ा भाई राजा बना तो छोटे को बात अजीब लगी। उसने ज्योतिषी को बुलाया और कहा कि आपने उल्टी बात बता दी। ज्योतिषी ने कहा—हमने उल्टी बात नहीं बताई थी। ठीक बताई थी। उस समय जो होने वाला था, वही बताया। दोनों बताओ कि मेरे बताने के बाद तुम दोनों ने क्या-क्या किया? दोनों भाइयों ने अपनी-अपनी कहानी सुनाई। ज्योतिषी ने कहा—मैं क्या करूं? ज्योतिष का जो नियम था उसी के आधार पर मैंने बताया था। तुमने बुरा आचरण किया। तुम्हें राज्य मिलने वाला था, किन्तु बुरे आचरण के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम बदल गया और दूसरा लागू हो गया। इसे विपत्ति आने वाली थी। किन्तु इसने इतना अच्छा आचरण किया कि विपत्ति बदल गई और इसने सौभाग्य का वरण कर लिया।

यह नियमों का नियंत्रण, बदलना हमारे हाथ में है। इसलिए महावीर ने कहा कि प्रमत्त मत बनो। सतत जागरूक रहो। प्रमत्त है, उसे भय है। आज ऐसा लगता है कि सब कुछ है, सारी सम्पदा है, किन्तु नियम कब बदल जाए, क्या पता? जो प्रमादी है, उसके लिए हर क्षण खतरा उपस्थित हो सकता है। किन्तु जो अप्रमादी है उसे कहीं से भी भय नहीं होता। बुरी से बुरी होने वाली घटना, बुरी से बुरी होने वाली बात टल जाती है और नियम बदल जाता है।

इन सारे सन्दर्भों से हम फिर इस सिद्धान्त पर विचार करें कि हम स्वयं अपने भाग्य के कर्त्ता हैं, सुख-दु:ख के कर्त्ता हैं और हम स्वयं अपने नियंता हैं। कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है। कोई दूसरा नियंता नहीं है। केवल नियम है। नियम को समझकर चलें। अगर हम उन नियमों को जान लें कि किस नियम से सुख मिलता है, किससे दु:ख होता है। आश्रव से दु:ख होता है। आश्रव से सुख होता है, पाप का बन्ध होता है। जब शुभ आश्रव होता है, तब पुण्य का बन्ध होता है। अशुभ आश्रव होता है तो पाप का बन्ध होता है। ये नियम हैं। आश्रव का एक नियम है और इसका प्रतिपक्षी नियम है संवर। जब संवर होता है तब न दु:ख होता है और न सुख होता है। वहां चैतन्य का विकास होता है। केवल जागरण होता है। बन्ध एक नियम। आश्रव एक नियम। पुण्य एक नियम। पाप एक नियम। संवर एक नियम और मोक्ष भी एक नियम। ये सारे नियम हैं। यह नियमों का सिद्धान्त जब समझ में आता है, तब व्यक्ति बहुत जागरूक बन जाता है। पुराने संस्कारों को कैसे क्षीण किया जाए, अच्छे संस्कारों का कैसे निर्माण किया जाए और कैसे बुरे संस्कारों को समाप्त किया जाए— ये सारे नियम प्रकट हो जाते हैं। यह एक पूरी नियमों की शृंखला है। जब आत्म-कर्तृत्व, अपना नियंत्रण— यह नियम समझ लिया जाता है तो उसके साथ सैकड़ों-सैकड़ों नियमों की एक पूरी शृंखला हमारे ध्यान में आ जाती है। व्यक्ति उन नियमों की शृंखला में अपने आपको संभाल ले, अपने आपको संवार ले, तो उसका कल्याण हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन को जीने का अर्थ है— सत्य को जीना

दर्शन आकाशी उड़ान नहीं है, शेखचिल्ली की कल्पना और पुजारी का सपना नहीं है। वह यथार्थ है। उसे जिया जा सकता है। महावीर ने दर्शन को जिया था। इसीलिए उन्होंने जो कहा, वही जिया और जो जिया, वही कहा। दर्शन के कल्पवृक्ष का एक अमरफल है—कथनी और करनी की समानता। राग और द्वेष के आवेश में जीने वाले मनुष्य की कथनी और करनी में दूरी बहुत होती है। जैसे-जैसे वीतरागता की ओर प्रस्थान होता है वैसे-वैसे कथनी और करनी की दूरी मिटती जाती है। वीतरागता के बिन्दु पर पहुंचते ही कथनी और करनी सर्वथा समान हो जाती है। यथावादी तथाकारी होना वीतराग की पहचान है। यथावादी तथाकारी न होना अवीतराग की पहचान है।

आस्था : अर्थ और फलितार्थ

जैन दर्शन में आस्था रखने का अर्थ है—अवीतराग से वीतराग की ओर जीवनयात्रा का आरम्भ। इसका फलितार्थ है—कथनी और करनी की दूरी के बिन्दु से कथनी और करनी की समानता के बिन्दु की ओर प्रस्थान। एक प्रश्न है जैन मुनि के सामने और एक प्रश्न है जैन श्रावक के सामने—क्या इस दिशा में चरण उठा या नहीं उठा? आगे बढ़ा या नहीं बढ़ा? इसका उत्तर खोजना जैन दर्शन को जीना है। जैन दर्शन को जीने का मतलब सत्य को जीना है, यथार्थ को जीना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो नहीं हैं सत्य और ऋजुता

पूछा किसी ने भगवान महावीर से—
भंते! धर्म कहां ठहरता है?
भगवान—शुद्ध आत्मा में।
भंते! शुद्ध आत्मा की पहचान क्या है?
भगवान—ऋजुता, सरलता।
भंते! ऋजुता क्या है?
भगवान—जो सत्य है।
भंते! सत्य क्या है?
भगवान—जो ऋजुता है।
ऋजुता और सत्य को पृथक् नहीं किया जा सकता।
सत्य के चार प्रकार हैं—
* शरीर की ऋजुता
* भाव की ऋजुता
* भाषा की ऋजुता
* अविसंवादी प्रवत्ति—कथनी-करनी की समानता।

व्रत का स्थान दूसरा है

कुछ चिंतक कहते हैं—जैन धर्म में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है, सत्य पर कोई बल नहीं है। यह चिंतन एक जैन व्यक्ति की वर्तमान जीवन-प्रणाली से उपज सकता है। जैन दर्शन और उसकी वास्तविक जीवन-प्रणाली से यह भ्रांति नहीं उपज सकती। अहिंसा एक व्रत है। महावीर के दर्शन में व्रत का स्थान दूसरा है। सम्यक् दर्शन या सम्यक्त्व का स्थान पहला है। जो सम्यक् है वह सत्य है और जो सत्य है, वह सम्यक् है। सत्य या सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के बिना अहिंसा की आराधना यथार्थ रूप में कब संभव बनती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सज्ज्ञानं प्रथमो धर्मः

'आचारः प्रथमो धर्मः' यह घोष बहुत प्रचलित है। जैन दर्शन का घोष इससे भिन्न है। भगवान महावीर ने कहा— 'पढमं नाणं तओ दया'— पहले ज्ञान फिर आचरण। आचार ज्ञान का सार है— 'नाणस्स सारं आयारो'। ज्ञान का अर्थ केवल तथ्यों और घटनाओं को जानना मात्र नहीं है। उसका अर्थ है—सम्यक् दर्शन की छत्रछाया में होने वाला ज्ञान। मिथ्यादर्शन के वलय में जो ज्ञान होता है, वह राग और द्वेष से प्रभावित होता है। इसलिए उस ज्ञान को अज्ञान माना जाता है। जैन शासन में ज्ञान उसी को माना गया है, जिससे पदार्थ के प्रति विराग और श्रेय के प्रति अनुराग उत्पन्न हो, जिससे मैत्री की चेतना जागे और समता की अनुभूति विकसमान बने। सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान संभव नहीं। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् आचरण संभव नहीं। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन का स्थान पहला, सम्यक् ज्ञान का दूसरा और सम्यक् आचरण का तीसरा है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान में भेद की विवक्षा न करे तो यह घोष बनता है— 'सज्ज्ञानं प्रथमो धर्मः'।

जनश्रुति और वास्तविकता

जैन दर्शन कोरा क्रियावादी नहीं है और कोरा ज्ञानवादी भी नहीं है। वह ज्ञान और क्रिया—दोनों की युति को स्वीकार करता है। ज्ञान के बिना क्रिया और क्रिया के बिना ज्ञान—दोनों अधूरे हैं। साधना की परिपूर्णता इन दोनों के समन्वय से ही आती है।

अहिंसा एक क्रिया है, एक आचरण है। जैन दर्शन अहिंसा पर अधिक बल देता है—यह एक जनश्रुति बन गई। वास्तविकता कुछ और है। जैन दर्शन का बल किसी पर नहीं है। वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी दर्शन है। इसलिए किसी एक अंश पर उसका बल हो नहीं सकता। उसका बल जितना ज्ञान पर है उतना ही आचार पर है, जितना आचार पर है उतना ही ज्ञान पर है। दोनों पहलू संतुलित हैं। तराजू का कोई भी पलड़ा हल्का और भारी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विराग का मूल

सम्यक् दर्शन का विकास नहीं होता है तब मनुष्य शरीर को ही अपना अस्तित्व मानता है और पदार्थ को अपना मानता है। यह अहंकार और ममकार राग को बढ़ाता है। उससे बढ़ता है दुःख का चक्र। सम्यक् दर्शन का विकास होने पर सबसे पहले यह भ्रांति टूटती है। 'मैं शरीर नहीं हूं', 'मेरा अस्तित्व इससे भिन्न है', 'मैं आत्मा हूं, चेतन हूं, शरीर अचेतन है'। यह आत्मा और शरीर के भेद का बोध स्पष्ट होता है तब राग की जड़ हिल जाती है।

विराग का मूल हेतु है—आत्मा और शरीर का भेद-विज्ञान। यह भेद विज्ञान कोरा शब्द नहीं है, एक अनुभूति है। यह अनुभूति जितनी प्रखर होती है, वैराग्य उतना ही प्रखर हो जाता है। आत्मा और शरीर का भेद-विज्ञान होने पर 'यह पदार्थ मेरा है' इस प्रकार की धारणा समाप्त हो जाती है। राग को बढ़ाता है शरीर और पदार्थ। शरीर और पदार्थ—दोनों की भेदानुभूति सत्य का दरवाजा खोल देती है।

सम्यग् दर्शन पुष्ट बने

सत्य का एक अर्थ है—जो जैसा है उसको उसी रूप में जानना। यानी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान। इस सत्य का मूल्य केवल ज्ञानात्मक है, आचारात्मक नहीं। समग्र सत्य वह है जिसका मूल्य ज्ञानात्मक भी हो, आचारात्मक भी हो। सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञानात्मक मूल्य वाला सत्य विकसित हो सकता है किन्तु आचारात्मक मूल्य वाला सत्य विकसित नहीं होता। एक रागी आदमी प्रिय वस्तु को अहितकर जानता हुआ भी उसे त्याग नहीं सकता है। उसे एकांश सत्य उपलब्ध है। वह अहितकर को अहितकर जानता है किन्तु विराग को बढ़ाने वाला भेद-विज्ञान उसमें नहीं है। इसलिए वह अहितकर को अहितकर जानते हुए भी छोड़ नहीं पाता। जैन दर्शन तभी जिया जा सकता है जब सम्यग् दर्शन पुष्ट बने, भेद-विज्ञान का अभ्यास परिपक्व बने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में राष्ट्रीय एकता के तत्त्व

भावात्मक एकता का पहला सूत्र

प्रत्येक व्यक्ति अपूर्ण है। अपूर्णता का अर्थ विकास की अपूर्णता है। क्षमता है पर वह विकसित नहीं है। अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में प्रस्थान करने का माध्यम है—धर्म। जैन दर्शन में वही धर्म उत्कृष्ट मंगल माना जाता है। अहिंसा, संयम और तप—ये तीन उसके रूप हैं। असंयम और सुखवाद या सुविधावाद—ये समाज में विघटन पैदा करने वाले तत्त्व हैं। इनकी साधना के लिए अनेकान्त दृष्टि का विकास आवश्यक है। भावात्मक एकता का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन। अनेकान्त सम्यक् दर्शन है। सापेक्षता और समन्वय के रूप में उसका व्यवहार किया जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति में अर्थ-संग्रह की वृत्ति होती है। वह अधिकतम अर्थ का संग्रह चाहता है। यह संग्रह की मनोवृत्ति भी संघर्ष या टकराव पैदा करती है। निम्नवर्ग के लोगों में उच्चवर्ग के प्रति सद्भावना नहीं है। कारण साफ है—उच्चवर्ग निम्नवर्ग से निरपेक्ष होकर जीना चाहता है। वह अपनी सुख-सुविधा को ही बढ़ाना चाहता है। इस वैयक्तिक सुविधावादी मनोवृत्ति ने समाज और राष्ट्र को तोड़ने में अहं भूमिका निभायी है।

एकात्मकता का सूत्र

अनेकान्त का पहला तत्त्व है—सापेक्षता। प्रत्येक विचार सापेक्ष होता है। एक व्यक्ति अपने विचार को सही मानता है, यह ठीक हो सकता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब वह अपने विचार को सापेक्ष माने। दूसरों के विचार के साथ उसका समन्वय स्थापित कर सके।

पानी जीवन है, उसके बिना जीवन चल नहीं सकता। यह विचार सही है किन्तु आहार के प्रसंग में सही है। जब श्वास और पानी की तुलना करें तो कहना होगा कि श्वास जीवन है। पानी जीवन को चलाने का एक साधन है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से गुंथा हुआ है। एक विचार दूसरे विचार से जुड़ा हुआ है। इस ग्रन्थन और जोड़ की सापेक्षता को समझकर ही एकात्मकता का विकास किया जा सकता है। गति में दोनों पैर सापेक्ष हैं। एक आगे बढ़ता है, दूसरा पीछे सरक जाता है। पीछे वाला आगे आता है और आगे वाला पीछे चला जाता है। इस गौण और मुख्यभाव से समाज की व्यवस्था और राष्ट्र की एकात्मकता चल सकती है।

बाधक है आग्रह

आग्रह गति और विकास—दोनों में बाधक है। आज समाज में जातीयता, भाषा, प्रान्तीयता के आग्रह पनप रहे हैं। वे सब विघटनकारी तत्त्व हैं। किसी भी भाषा का मूल्य हो सकता है किन्तु उसका उतना मूल्य नहीं हो सकता कि वह भावात्मक एकता को विखंडित कर दे। जाति की अपनी उपयोगिता हो सकती है, किन्तु मानवता में दरार पैदा करे उतना मूल्य उसे नहीं दिया जा सकता।

सापेक्षता के प्रतीक

जैन दर्शन का ध्रुव सिद्धान्त है कि मूलत: मानव जाति एक है। वह उपयोगिता या व्यावहारिकता की दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त है। उपयोगिता मौलिकता का अतिक्रमण करे—यह असंगत बात है। राष्ट्रों की इकाइयां भी उपयोगिता के आधार पर बनी हैं किन्तु वे शन्तिपूर्ण जीवन तभी जी सकते हैं जब सापेक्षता के सूत्र में बंधे हुए हों। सापेक्षता इतनी जुड़ी हुई है कि कोई राष्ट्र अलग होकर अकेला नहीं जी सकता। एक राजधानी में सैकड़ों राष्ट्रों के दूतावास सापेक्षता के प्रतीक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का पहला पड़ाव

हम सब सापेक्ष हैं। इस सचाई को हृदयंगम कर लेने पर ही समन्वय की बात आगे बढ़ती है। सापेक्षता की अनुभूति होती है तब समन्वय के द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। सापेक्षता और समन्वय की दिशा में प्रस्थान अहिंसा का पहला पड़ाव बनता है। हिंसा के द्वारा मांग पूरी हो जाती है, सफलता जल्दी मिल जाती है—यह विश्वास मानव मस्तिष्क में रूढ़ हो गया। क्वचित् सफलता का आभास मिल जाता है, इसलिए उसकी पुष्टि हो जाती है। व्यापक संदर्भ में इसे देखें तो पता चलेगा कि मनुष्य जाति का सबसे अधिक अनिष्ट हिंसा ने किया है।

भगवान महावीर, भगवान बुद्ध और महात्मा गांधी ने इस सचाई की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया था, फिर भी हिंसा का पक्ष बहुत प्रबल है, उसे भारी समर्थन मिलता है। राष्ट्रीय विघटन हिंसा का ही एक स्फुलिंग है।

हिंसा की समस्या

मानव जाति एक है—यह सैद्धान्तिक बात है। व्यावहारिक बात इससे भिन्न है। कर्म, संस्कार, विचार, रुचि और आचार की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य भिन्न है। वह भिन्नता ही संघर्ष, हिंसा और तनाव का कारण बनती है। जिनमें आवेश की प्रबलता है, वे हिंसा में विश्वास करते हैं। बौद्धिक लोगों ने उसे कम बढ़ावा नहीं दिया है।

अहिंसा की समस्या है कि सब मनुष्य समान नहीं हैं। हिंसा को इसका लाभ मिल रहा है। अचेतन को एकरूप किया जा सकता है। चेतन को बलात् या आकस्मिक रूप से एक रूप नहीं किया जा सकता। उसकी एकरूपता का एक उपाय है और वह है प्रशिक्षणात्मक अभ्यास। प्रशिक्षण और अभ्यास के द्वारा यौगलिक समाज की कल्पना की जा सकती है। यौगलिक शब्द उस समाज का प्रतिनिधित्व करता है; जिसमें क्रोध, मान, माया और लोभ का आवेश अल्पतम होता है। फलतः वह अहिंसक या अपरिग्रही समाज होता है। उक्त कषाय चतुष्टय की तीव्रता ने समाज में हिंसा और परिग्रह की समस्या को जटिल बनाया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राष्ट्रीय एकता का आधार-सूत्र

हमारा बल इस बात पर है कि समाज अहिंसक बने, अपरिग्रही बने। यह सम्भव नहीं है। कषाय की तीव्रता और अहिंसक समाज की रचना—ये दोनों विरोधी बातें हैं। कषाय की तीव्रता और अनेकान्त का प्रयोग—ये दोनों एक साथ सम्भव नहीं है। अनेकान्त, सापेक्षता, समन्वय, अहिंसा, अपरिग्रह—इन सबकी आधारशिला है कषाय पर नियन्त्रण।

भावात्मक एकता या राष्ट्रीय एकता का आधार-सूत्र भी यही है। जैन वाङ्मय का प्रसिद्ध सूत्र है—**कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव**—कषाय की मुक्ति ही मुक्ति है। फिर चाहे समस्या की मुक्ति हो या देह-मुक्ति। हमारी शिक्षा के साथ कषाय नियन्त्रण के प्रशिक्षण की बात जुड़े बिना हम भावात्मक एकता की बात सोच नहीं सकते। जैन दर्शन ने इस बात पर बल दिया कि जड़ को सींचो, केवल फूल और पत्तों को मत सींचो। हम पत्तों और फूलों तक अटक जाते हैं, जड़ तक पहुंचने की बात बहुत कम करते हैं। मूलस्पर्शी नीति के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता का संवर्धन किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म और नैतिकता

जैन धर्म पर विचार करते समय उसके चार प्रमुख विषयों पर विचार कर लेना जरूरी है— दर्शन, आचार, गणित और कथा। इस चार अंग वाले वर्गीकरण के आधार पर आगम साहित्य चार भागों में विभक्त है—

द्रव्यानुयोग—तत्त्व मीमांसा : दर्शनशास्त्र

चरणकरणानुयोग—आचार-शास्त्र

गणितानुयोग—गणित-शास्त्र

धर्मकथानुयोग—कथा, दृष्टांत, रूपक आदि।

समाज को प्रभावित करने वाला विषय है आचारशास्त्र। दर्शनशास्त्र उसकी पृष्ठभूमि में रहता है। समाज से सीधा सम्बन्ध आचार और व्यवहार का होता है। भगवान महावीर ने सामाजिक मनुष्य के लिए अणुव्रत की आचार-संहिता प्रतिपादित की। उसमें अहिंसा का पहला स्थान है। उनका सूत्र है—अहिंसा धर्म है, धर्म के लिए हिंसा नहीं की जा सकती। धर्म की रक्षा अहिंसा से होती है, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा नहीं की जा सकती।

महावीर ने घोषणा की—मनुष्य जाति एक है। जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत-ये हिंसा के तत्त्व हैं। अहिंसा धर्म में इनके लिए कोई अवकाश नहीं है।

महावीर ने धर्म के तीन लक्षण बतलाए—अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों आत्मिक और वैयक्तिक हैं। इनसे फलित होने वाला चरित्र नैतिक होता है। राग-द्वेषमुक्त चेतना अहिंसा है। यह धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। जीव की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य का पालन करना, परिग्रह नहीं रखना—यह धर्म का नैतिक स्वरूप है। राग-द्वेषमुक्त चेतना आत्मिक स्वरूप है। वह किसी दूसरे के प्रति नहीं है और उसका सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं है। जीव की हिंसा नहीं करना— यह दूसरों के प्रति आचरण है। इसलिए यह नैतिक है। नैतिक नियम धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप से ही फलित होता है। इसका उदय धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही है। इसलिए यह धर्म से भिन्न नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर और थॉमस हक्सले तथा आधुनिक प्रकृतिवादी और मानवतावादी चिंतकों ने धर्म और नैतिकता को पृथक् स्थापित किया है। यह संगत नहीं है। जो आचरण धर्म की दृष्टि से सही है, वह नैतिकता की दृष्टि से गलत नहीं हो सकता। धर्म अपने में और नैतिकता दूसरों के प्रति—इन दोनों में यही अन्तर है। किन्तु इनमें इतनी दूरी नहीं है, जिससे एक ही आचरण को धर्म का समर्थन और नैतिकता का विरोध प्राप्त हो। समाजशास्त्रियों ने धर्म और नैतिकता के भेद का निष्कर्ष स्मृति-धर्म के आधार पर निकाला। उस धर्म को सामने रखकर धर्म और नैतिकता में दूरी प्रदर्शित की जा सकती है। धर्म के द्वारा समर्थित आचरण को नैतिकता का विरोध प्राप्त हो सकता है। वह धर्म रूढ़िवाद का समर्थक होकर समाज की गतिशीलता का अवरोध बन सकता है।

धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप आत्म-केन्द्रित और उसका नैतिक स्वरूप समाज-व्यापी है। इस प्रकार धर्म दो आयामों में फैला हुआ है। इस धर्म में दोनों रूप शाश्वत सत्य पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं। स्मृति-धर्म (समाज की आचार संहिता) देशकाल की उपयोगिता पर आधारित है। इसलिए यह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील धर्म की अपरिवर्तनशील धर्म के रूप में स्थापना और स्वीकृति होने के कारण ही धर्म के नाम पर समाज में वे बुराइयां उत्पन्न हुईं जिनकी चर्चा समाजशास्त्रियों ने की है।

समाज व्यवस्था का मूल मंत्र है—अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है-अभय का विकास और अनाक्रमण का विकास।

यह जंगल का कानून है कि एक शेर दूसरे प्राणियों को खा जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। एक बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, यह समुद्र का कानून है। जहां भय होता है वहां समाज नहीं बनता। समाज बने और चले, समाज व्यवस्था स्थाई रहे, उसके लिए दो अनिवार्य शर्तें हैं—अभय और अनाक्रमण। इन दोनों का समुच्चय है अहिंसा।

जो राष्ट्र परस्पर युद्ध करते हैं वे ही राष्ट्र युद्ध के बाद परस्पर अनाक्रमण संधियां करते हैं। युद्ध के बिना भी अनाक्रमण की संधियां होती हैं। एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा, किसी का अपहरण नहीं करेगा, ये संधियां होती हैं, इसलिए कि समाज शान्ति में रह सके। शांति का आधार है समाज। शांति का आधार है अनाक्रमण और अभय की भावना का विकास। गृहस्थ की आचार-संहिता का पहला सूत्र महावीर ने दिया अहिंसा। यह समाज-व्यवस्था का सबसे मजबूत आधार माना जाता है।

एक सामाजिक प्राणी के लिए अहिंसा के क्रमिक विकास की संहिता निर्धारित की जा सकती है। क्रमिक विकास की दृष्टि से हिंसा के तीन विभाग किये गए—

आरंभजा हिंसा—खेती तथा जीविका के साधन मूल व्यापार और उद्योग में होने वाली हिंसा।

विरोधजा हिंसा— आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए होने वाली हिंसा।

संकल्पजा हिंसा—संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा।

एक सामाजिक मनुष्य के लिए आरंभजा हिंसा से बचना सम्भव नहीं है। विरोधजा हिंसा से बचना असम्भव नहीं पर लगभग असंभव जैसा है। अहिंसा का अभ्यास करने वाला सबसे पहले संकल्पजा हिंसा का परित्याग करे।

अहिंसा अध्यात्म का एक प्रयोग है। वह आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिए जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही समाज के लिए उपयोगी है। हिंसा का अर्थ किसी प्राणी को मारना ही नहीं है, लड़ाई, झगड़ा और कलह करना भी हिंसा है। दोषारोपण, चुगली, निंदा— ये सब हिंसा के प्रकार हैं। आर्थिक और व्यावसायिक अप्रामाणिकता भी हिंसा है। इनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समावेश संकल्पजा हिंसा की कोटि में होता है। स्वस्थ समाज के लिए इन सबका वर्जन अत्यन्त आवश्यक है। भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त अहिंसा अणुव्रत की व्यवस्था बहुत व्यापक है। अहिंसा अणुव्रत स्वस्थ समाज की रचना का एक प्रयोग है।

अहिंसा पर आधारित जीवन शैली का प्रयोग किया गया। इस आधार पर व्रती समाज की संरचना की गई। अव्रती समाज हिंसा और संग्रह इन दोनों से प्रभावित होता है और वह हिंसा से उपजने वाली असीम आकांक्षा या संग्रह से उपजने वाली समस्याओं से घिरा रहता है और नई समस्याएं भी पैदा करता है।

भगवान महावीर ने अहिंसा और असंग्रह की पुष्टि के लिए उपभोग के व्रत की व्यवस्था की। उपभोग की सीमा किये बिना अर्थार्जन में शुद्ध साधन की स्थिति का निर्माण नहीं होता। उसके बिना नैतिकता के प्रश्न का समाधान नहीं होता। भगवान महावीर के व्रती समाज में पांच लाख से अधिक स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उनका आध्यात्मिक जीवन विकसित हुआ। उसके साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आया।

ढाई हजार वर्ष के बाद आज भी व्रती समाज की कल्पना बहुत सार्थक है। इस दिशा में उठने वाला कदम व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को नई दिशा देने वाला होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म की देन

वह धर्म, जिसके सिद्धान्त जनता के लिए कल्याणकारी होते हैं, उसे संख्या से नहीं आंका जा सकता। गणित की भाषा में उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती किन्तु जो शक्तिशाली धर्म होता है, वह जन-मानस में अपना प्रभाव छोड़ देता है। जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या कितनी है, इस बात से जैन धर्म को आंका नहीं जा सकता। किन्तु जैन धर्म ने जन-मानस को कितना प्रभावित किया और वर्तमान का जन-मानस और वर्तमान का युग उससे कितना प्रभावित है, इस पर थोड़ा ध्यान दें।

आज के युग में समन्वय का स्वर बहुत प्रबल है। एक साधारण आदमी भी समन्वय की बात करना चाहता है। यह समन्वय का स्वर कहां से मुखर हुआ? जैन दर्शन का एक सिद्धान्त है नयवाद। वह जैन धर्म की एक विशेष देन है। उसका बहुत बड़ा फलित है कि प्रत्येक विचार सत्य है। जितने विचार हैं, वे सब विचार सत्य हैं। यानी कोई भी विचार मिथ्या नहीं है। यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है। इसके आधार पर प्रत्येक दर्शन को मान्यता मिल जाती है। जैन दर्शन ने सब दर्शनों को मान्यता दे दी। कितना उदार दृष्टिकोण है! जितने दर्शन, जितने सम्प्रदाय, जितने विचार हैं, वे सब सत्य हैं, असत्य नहीं हैं। असत्य तब बनते हैं जब वे निरपेक्ष बन जाते हैं। सापेक्ष हैं तो सब सत्य हैं। यह सब विचारों की सत्यता की स्वीकृति एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है और यह जैन दर्शन की अलग पहचान बनाने वाला सिद्धान्त है। किसी भी दर्शन ने इतनी उदारता के साथ इस बात को स्वीकार नहीं किया कि दूसरा दर्शन भी सत्य है।

सार्वभौम धर्म की स्वीकृति—यह जैन धर्म की दूसरी विशेषता है। उसमें असाम्प्रदायिक धर्म को स्वीकार किया गया, सार्वभौम धर्म को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार किया गया। बहुत सारे धर्म यह मानते हैं कि मेरे धर्म में आओ, मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। तुम्हारा मोक्ष हो जाएगा। कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि दूसरे धर्म में जाओ, तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। या दूसरे धर्म में रहते हुए भी तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। जैन धर्म ने कहा कि धर्म सम्प्रदाय से ऊपर है। धर्म अलग है और सम्प्रदाय अलग है। धर्म और सम्प्रदाय का गठबन्धन नहीं है। एक व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय में है, किन्तु उसका चित्त निर्मल है, पवित्र है, राग-द्वेष से रहित है तो वह धर्म है। उसने सम्प्रदाय के साथ धर्म को नहीं जोड़ा। यह सार्वभौम धर्म का सिद्धान्त यानी केवल धर्म की मान्यता, सम्प्रदाय की मान्यता नहीं। धर्म सबका एक है। धर्म दो नहीं हो सकता। सत्य दो नहीं हो सकता। इसे सिद्धान्त के रूप मे नहीं, व्यवहार के रूप में जैन धर्म ने स्वीकार किया और उसका प्रतिपादन किया।

जो व्यक्ति जैन धर्म का अनुयायी नहीं है, जैन नहीं है, पर वह अच्छा आचरण करता है, जिसमें राग-द्वेष उपशान्त है, उस व्यक्ति का भी धर्म मोक्ष की ओर ले जाने वाला है। वह व्यक्ति मोक्ष की आराधना करने वाला है। इतना बड़ा विराट सिद्धान्त महावीर ने दिया। वर्तमान का युग असाम्प्रदायिकता को महत्त्व देने वाला है। आज भी साम्प्रदायिकता की कमी नहीं है, किन्त वर्तमान का जो प्रबुद्ध चिन्तक है, वह साम्प्रदायिकता के पक्ष में नहीं है। वह धर्म के पक्ष में है। वह साम्प्रदायिक कट्टरता को पसन्द नहीं करता। आज के युग की विशेषता है असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण। आम जनता में असाम्प्रदायिकता नहीं आई हो, साम्प्रदायिक कट्टरता कम न हुई हो किन्तु चेतना का जो क्षेत्र है, वहां निश्चित ही असाम्प्रदायिकता को महत्त्व मिला है।

तात्त्विक, वैचारिक और चिन्तन के इतिहास के सन्दर्भ में खोज करें कि सबसे पहले असाम्प्रदायिक धर्म या सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किसने किया तो पता चलेगा कि भगवान महावीर ने किया, जैन धर्म ने किया। जैन धर्म का एक शब्द है— **'असोच्चा केवली'**, अश्रुत्वा केवली। जिस व्यक्ति ने कभी धर्म सुना नहीं, किसी सम्प्रदाय में गया नहीं, किसी सम्प्रदाय को अथवा किसी व्यक्ति को गुरु नहीं माना, किन्तु प्रकृति से बड़ा सरल, भद्र, विनीत, मृदु और सहिष्णु है—इस प्रकार का व्यक्तित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव से अच्छा आचरण करते-करते उस बिन्दु पर पहुंच जाता है, केवली बन जाता है। इस बात को जैन धर्म ने स्वीकार किया है, इसका प्रतिपादन किया है। 'असोच्चा केवली' को भी वही स्थान दिया जो जैन परम्परा में दीक्षित मुनि को केवली बनने पर मिलता है। कोई अन्तर नहीं दोनों में। कितना बड़ा स्वीकार है सार्वभौम धर्म का। इसका स्पष्ट अर्थ है कि आकाश एक है, उसे घेरों में बांधा नहीं जा सकता। धर्म एक है। सत्य एक है। उसे सम्प्रदायों में बांधा नहीं जा सकता। यह सम्प्रदायातीत धर्म का प्रतिपादन जैन धर्म की अपनी एक मौलिक विशेषता है।

तीसरी विशेषता है—आध्यात्मिक साम्यवाद। जैन धर्म ने समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भगवान महावीर के धर्म का नाम समता धर्म, सामायिक धर्म, समय धर्म है। जैन शासन का कभी नाम सामायिक धर्म रहा है, ऐसा प्रमाणित होता है। तीन प्रकार के निर्णय बताए गए—वैदिक, लौकिक और सामायिक। एक हैं वेदों के आधार पर होने वाला निर्णय यानी वैदिक सिद्धान्त। दूसरा है लौकिक सिद्धान्त जो लोकमान्यता के आधार पर चलता है और तीसरा है सामायिक सिद्धान्त। यानी श्रमणों का सिद्धान्त या जैन धर्म का सिद्धान्त। समया धम्म मुदाहरे मुणी— मुनी ने यानी महावीर ने समता धर्म का प्रतिपादन किया, आध्यात्मिक साम्यवाद का प्रतिपादन किया। सब जीव समान हैं। पृथ्वीकायिक जीव, जो अविकसित हैं, से लेकर मनुष्य का जीव, जो सबसे अधिक विकसित है—ये सब जीव जीवत्व की दृष्टि से समान हैं। केवल सिद्धान्त के आधार पर ही यह बात नहीं कही गई। उन्होंने व्यवहार के आधार पर भी समता का प्रतिपादन किया।

जैन धर्म ने जातिवाद को अतात्त्विक माना, जन्मना जाति को अस्वीकार किया। भगवान महावीर के समय में ब्राह्मण परम्परा में जातिवाद को तात्त्विक मान्यता मिली थी कि जाति जन्मना होती है। जन्मना जातिवाद प्रचलित था। जाति के आधार पर आदमी ऊंचा और नीचा माना जाता था। जाति के आधार पर आदमी छूत और अछूत माना जाता था। वर्ण-व्यवस्था चल रही थी। किन्तु आज का स्वर और युग का चिन्तन यह है कि जातिवाद ने समाज को बहुत हानि पहुंचाई है। आज का युग-चिन्तन जातिवाद के पक्ष में नहीं है। इस पर किसका प्रभाव है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म का बड़ा प्रभाव है। बौद्ध धर्म का भी प्रभाव है। भगवान महावीर ने कहा—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तियो।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवई कम्मुणा।

जो प्रचलित वर्ण-व्यवस्था थी, उसमें चार वर्ण माने गए थे। उन चारों वर्णों को सामने रखकर महावीर ने कहा—ब्राह्मण भी कर्म से होता है, क्षत्रिय भी कर्म से होता है, वैश्य और शुद्र भी कर्म से होता है। कर्मणा जाति है, जन्मना जाति नहीं है। एक व्यक्ति आज रक्षा का काम करता है तो क्षत्रिय बन जाता है, कल वह व्यापार करेगा तो वैश्य बन जाएगा। सेवा के काम में आएगा तो शूद्र बन जाएगा। अध्ययन और अध्यापन के काम में लगेगा तो वह अध्यापक बन जाएगा। एक ही व्यक्ति अपने जीवन में चारों जातियों को भोग सकता है। यानी चारों जातियों में जा सकता है। जातिवाद अतात्त्विक है। जन्मना जाति नहीं होती। जाति कर्म से होती है। जाति के आधार पर कोई ऊंचा नीचा नहीं होता। भगवान महावीर ने इस सिद्धान्त के आधार पर अपने साधुओं को निर्देश दिया कि भिक्षु दीक्षित हुआ, वह चाहे चक्रवर्ती राजा था, चाहे और कोई बड़ा आदमी था, उस चक्रवर्ती का नौकर या उसका दास पहले दीक्षित हो चुका है, आज दीक्षित होने वाला सम्राट उनके पास जाकर वंदना करे, प्राणिपात करे। यह अहंकार न करे कि यह तो मेरा नौकर था और मैं इसका मालिक था। समता धर्म में जो प्रतिपन्न हो गया, समता धर्म जिसने स्वीकार कर लिया उसके लिए अंहकार वर्जनीय है, अकरणीय है और समता धर्म की आचार-संहिता के सर्वथा विरुद्ध है। भगवान महावीर ने चाण्डाल को दीक्षित किया। जैन धर्म में सब जाति के लोग दीक्षित हुए—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शुद्र भी। चाण्डाल भी दीक्षित हुए। दीक्षित होने के बाद सबके साथ पूर्ण समता, कोई भेदभाव नहीं, एकात्मकता, कहीं कोई अन्तर नहीं। बल्कि यह कहा चाण्डाल जाति के हरिकेश मुनि के प्रसंग में—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सो वागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

साक्षात देखो। यह तपस्या की विशेषता है, आचार की विशेषता है, चरित्र की विशेषता है, गुण की विशेषता है, जाति की कोई विशेषता नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। देखो चाण्डाल-पुत्र हरिकेश साधु को सारे ब्राह्मण कुमार और ऋषि वंदना कर रहे हैं। इसका इतना प्रभाव और महत्त्व है। महावीर ने अस्पृश्यता और छुआछूत को सर्वथा अस्वीकार किया। आदमी कोई अस्पृश्य होता नहीं। घृणित होता नहीं। घृणा पर इतना तीखा प्रहार किया कि घृणा करने वाला मोहनीय कर्म का बंध करता है और मूढ़ता को प्राप्त होता है।

बहुत शताब्दियों तक या सहस्राब्दियों तक यह चलता रहा—पुरुष बड़ा और स्त्री छोटी। पुरुष जैसा चाहे वैसा स्त्री के साथ में व्यवहार कर सकता है। हजारों वर्षों की अवधि में पुरुषों ने स्त्रियों पर इतने क्रूर और निर्मम अत्याचार किए हैं कि उनको पढ़कर या जानकर आदमी कांप उठता है। शायद भारतीय इतिहास में भगवान महावीर पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पुरुष और स्त्री को समान स्थान दिया। उन्होंने अपने धर्मसंघ में स्त्री को दीक्षित किया। जैन धर्म के पहले या महावीर से पहले कहीं नहीं मिलेगा कि स्त्री को दीक्षित किया हो। पहला इतिहास है कि भगवान महावीर ने स्त्री को दीक्षा दी और उनका व्यवस्थित संगठन खड़ा किया। महात्मा बुद्ध ने भी स्त्रियों को दीक्षित किया, भिक्षुणियां बनाईं, किन्तु बहुत बाद में और बड़ी हिचकिचाहट के साथ। जब गौतमी का प्रसंग आया तब आनन्द ने कहा—भंते! गौतमी को दीक्षित करें। बुद्ध ने कहा—ठीक नहीं होगा, अच्छा नहीं होगा, अस्वीकार कर दिया। बहुत अनुरोध करने पर बुद्ध ने स्वीकार किया, पर कहा—आनन्द! मेरे धर्म का पांच सौ वर्ष का आयुष्य क्षीण हो जाएगा, यानी बौद्ध धर्म लड़खड़ा जाएगा और सचमुच लड़खड़ा गया। भिक्षुणियां बनाईं और सचमुच धर्मसंघ लड़खड़ा गया।

भगवान महावीर ने समता की स्थापना की और साथ-साथ में व्यवस्था भी रखी। उनका धर्मसंघ कभी नहीं लड़खड़ाया। ढाई हजार वर्ष के इतिहास में हजारों-हजारों भिक्षुणियां बनीं, किन्तु संघ लड़खड़ाया नहीं। विषमता अलग बात है, व्यवस्था अलग बात है। समता और व्यवस्था में कोई विरोध नहीं है। अगर समता और व्यवस्था में विरोध माना जाए तब तो एक ही टिकेगी। समता टिकेगी या व्यवस्था। दोनों नहीं टिक सकते। व्यवस्था नहीं होगी तो समता भी विषमता में बदल जाएगी।

भगवान महावीर ने स्त्री जाति को पुरुष के बराबर स्थान दिया। आज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का युग उसी चिन्तन के आधार पर चल रहा है। मैं अतिशयोक्ति करना नहीं चाहता, किन्तु जब हम चिन्तन के क्षणों में जाते हैं तो ऐसा लगता है कि महावीर के जो कार्य, व्यवहार और चिन्तन थे, वे आज के युग-चिन्तन बन गए। आज के युग की जो चिन्तन धाराएं हैं, वे एक प्रकार से महावीर की प्रतिध्वनियां कर रही हैं, प्रतिगुंजन हो रहा है। ऐसा लगता है कि ढाई हजार वर्ष पहले महावीर की बात को समाज नहीं पचा पाया, समझ नहीं पाया। कोई भी अच्छा चिन्तन होता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। किन्तु आकाश में जमा हो जाता है। हजारों-हजार वर्ष की अवधि में कोई समय ऐसा आता है, उस चिन्तन को पकड़ने वाला कोई मस्तिष्क बन जाता है और उसे आकार दे देता है। वर्तमान का युग-चिन्तन, वर्तमान का युगबोध महावीर के चिन्तन और महावीर की बोधि की प्रतिध्वनि कर रहा है, प्रतिक्रिया जता रहा है।

जैन धर्म-दर्शन का चौथा विशिष्ट सिद्धान्त है अनेकान्त। आज लोकतंत्र का युग है। लोकतंत्र का अर्थ है कि एक व्यक्ति को कभी प्रधानता मिलती है तो कभी उसे गौणता मिल जाती है। एक व्यक्ति राष्ट्रपति बनता है, अवधि समाप्त होने पर सामान्य नागरिक बन जाता है। सामान्य नागरिक होता है, वह राष्ट्रपति बन जाता है। सामान्य नागरिक होता है, प्रधानमन्त्री बन जाता है और प्रधानमन्त्री फिर सामान्य नागरिक बन जाता है।

आपने देखा है, बिलौना होता है। बिलौना के बाद मक्खन निकलता है। बिलौना कैसे होता है? अनेकान्त का सिद्धान्त है बिलौना करना। जब बिलौना होता है, मथनी चलती है तो दोनों हाथ एक स्थान पर नहीं रहते। एक हाथ आगे जाता है दूसरा हाथ पीछे जाता है, फिर पीछे वाला आगे जाता है और आगे वाला पीछे चला आता है। जब इस प्रकार बिलौना होता है, तब मक्खन निकलता है। एक आगे आता है और दूसरा पीछे चला जाता है। अगर दोनों हाथ बराबर रहेंगे तो क्या कभी मक्खन निकलेगा? कभी नहीं निकल सकता। यह है अनेकान्त।

जब आप चलते हैं तो चलने का क्रम क्या है? एक पैर आगे आएगा, दूसरा पैर पीछे रहेगा। फिर पीछे वाला आगे आएगा और आगे वाला पीछे चला जाएगा। अगर दोनों पैरों का आग्रह हो जाए कि हम दोनों बराबर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहेंगे तो गति नहीं हो सकती। हम चल नहीं सकते। यह है अनेकान्त का सिद्धान्त।

अनेकान्त का मतलब, जितने पदार्थ, जितने वस्तु के धर्म, तुम समझना चाहो, कहना चाहो, एक को मुख्य बना दो, दूसरे को गौण बना दो, फिर जिसको मुख्य बनाया, उसे गौण बना दो और जिसे गौण बनाया था, उसे मुख्य बना दो तो तुम सत्य को पकड़ पाओगे। अगर सबको मुख्य बना दिया या सबको गौण बना दिया तो सत्य को नहीं पकड़ पाओगे, आग्रह हाथ आएगा। नवनीत नहीं मिलेगा, सचाई नहीं मिलेगी। इस सिद्धान्त के आधार पर सहअस्तित्व का विकास हुआ। वह सहअस्तित्व आज का युग-चिन्तन है। यह लोकतंत्र आज का युग-चिन्तन है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इसलिए बना कि सहअस्तित्व का सिद्धान्त मान्य हो गया। यानी एक मंच पर साम्यवादी और पूंजीवादी राष्ट्र बैठते हैं और विश्व की समस्याओं का समाधान करते हैं। यह स्याद्वाद के सिद्धान्त का, सहअस्तित्व के सिद्धान्त का क्रियान्वयन है। सापेक्षता का सिद्धान्त, समन्वय का सिद्धान्त—ये सारे अनेकान्त के प्रतिफलन हैं।

ऐसा लगता है कि अनेकान्त को सैद्धान्तिक रूप भगवान महावीर के समय में मिला और उसे व्यावहारिक रूप समग्रता के साथ उनके पचीस सौ वर्ष के बाद आज मिला।

जैन धर्म का पांचवा सिद्धान्त है अपरिग्रह। वर्तमान युग-चिन्तन अपरिग्रह के पक्ष में है। बात विरोधी-सी लगेगी। पर विरोधाभास नहीं है। यद्यपि आज सम्पदा बहुत बढ़ी है। परिग्रह बहुत बढ़ा है। पर मार्क्स के बाद, साम्यवादी प्रणाली के विकसित होने के बाद, मुख्य स्वर अपरिग्रह का है। यानी व्यक्तिगत स्वामित्व को छोड़ने का है, न कि व्यक्तिगत स्वामित्व को बढ़ाने का है। जो लोग पूंजीवाद में रह रहे हैं, जी रहे हैं, वहां भी स्वर दूसरे प्रकार का है। आर्थिक समानता का स्वर है और वह ऐसा शक्तिशाली स्वर बन गया कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आज कुछ राज्यों में एकाधिपत्य है, अधिनायकवाद है। पर वे प्रजातंत्र के स्वर को नहीं छोड़ सकते। जो अधिनायकवादी हैं, वे भी अपने आपको प्रजातंत्रीय प्रणाली का कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। वैसे ही आज का पूंजीवादी वर्ग भी आर्थिक समानता की बात करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में गौरव का अनुभव करता है। यह अपरिग्रह का स्वर शक्तिशाली बन गया। महावीर का अपरिग्रह का स्वर सैद्धान्तिक या दार्शनिक था, वह आज प्रतिष्ठित हो गया।

ये पांच सिद्धान्त आज मैंने प्रस्तुत किए। प्रश्न होता है कि क्या मैं आज के युग की भाषा में बोल रहा हूं या जैन धर्म की भाषा में बोल रहा हूं? एक सामान्य प्रबुद्ध चिन्तक यह सोचेगा कि यह तो आज मैंने युग की जो अच्छी-अच्छी बातें थीं, उन्हीं को दुहरा दिया। किन्तु आज मैंने युग की बात की नहीं, केवल जैन धर्म की बातों को कहा है। साधार और सप्रमाण हैं, मनमानी बातें नहीं हैं। उनके पुष्ट आधार हैं, किन्तु जो जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं, वे सिद्धान्त केवल जैन धर्म तक सीमित नहीं रहे, वे सिद्धान्त आज के युग के सिद्धान्त बन गए। युग-सिद्धान्त जो बन जाता है, वह बहुत व्यापक हो जाता है।

मुझे एक घटना याद आ रही है। जोधपुर में पूज्य गुरुदेव से पूछा गया कि जैन धर्म के सिद्धान्त इतने अच्छे, फिर जैनों की संख्या इतनी कम क्यों। गुरुदेव ने बहुत सहजभाव से उत्तर दिया—मैं जैनों की संख्या कम नहीं मानता। उत्तर बहुत आश्चर्य पैदा करने वाला था। उसे स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा—जो जन्मना जैन हैं, वे जैन कितने हैं, मैं नहीं कह सकता, किन्तु जिन लोगों का विश्वास अहिंसा, अपरिग्रह, अनाग्रह, अनेकान्त में है, वे सब जैन हैं। मैं उन सबको जैन मानता हूं, इसलिए जैनों की संख्या कम नहीं है।

चीनी दूध में मिल गई। चीनी का अस्तित्व अलग से दिखाई नहीं देता, किन्तु पूरा दूध चीनी से प्रभावित हो गया, पूरे दूध में मिठास आ गई। जैन धर्म अलग से चाहे दिखाई दे या न दे, किन्तु जैन धर्म के चिन्तन ने युगचिन्तन को इतना प्रभावित किया कि आज जैन धर्म और दर्शन का विश्लेषण करूं या युगचिन्तन को बताऊं, दोनों में इतना सामीप्य है, इतनी निकटता है कि वे दो बिन्दु जैसे लगते नहीं, एक बिन्दु पर एकमेक हो जाते हैं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियां

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा

आदि-आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के मूल सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org